प्रकाशक
प्रदीपकुमार
श्री पूर्वोदय प्रकाशन
दरियागंज, दिल्ली

•

मूल्य साढ़े चार रुपये

द्वितीय संस्करण १९
मूल्य चार रुपये

•

मुद्रक
ओमप्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी (बनारस) ५४१६-१

प्रस्तावना

अपने इन कतिपय लेखों के संग्रह को मैंने 'पूर्वोदय' नाम दिया। वही नाम पुस्तक के प्रकाशकों ने अपने लिए स्वीकार किया है। ...य हो चाहे तो एशिया का जागरण समझ लिया जाय। पर सही ... वह नहीं है। एशिया के जागरण में ध्वनि राजनीतिक और ऐहिक ... पुस्तक का पूर्वोदय सर्वथा आत्मिक है। उसका आशय है उन जीवन ... और जीवन-मूल्यों का उदय जिनका निषेध पश्चिम के देशों की ... भौतिक उन्नति है। उन मूल्यों के उदय के साथ उस उन्नति की ... को जायगी और पूरब के लोग, जो पिछड़े समझे जाते हैं, उठते ... दग। गान्धी वही दृष्टि और वही शान्ति हमें दे गये हैं। उस ...न्ति में पश्चिम का भी पतन नहीं है, केवल ठोकर खाकर उसके लिए ... का अवसर है। दूसरे शब्दों में यह पूर्वोदय सर्वोदय का चरण है। मानव-परिवार का बड़ा भाग पूरब में बसता है। मानव ... की अवज्ञा का विधान जहाँ पश्चिम-पूजा हो, मानव-सम्मान की संस्कृति का इधर से उगना है। सन्देह का अवकाश नहीं कि व्यक्तित्व की सम्भावनाओं का सम्मान करनेवाली जाति के हाथ ही मानव-जाति का भविष्य हो सकता है। जो एक-पर-एक युद्ध उपजाती गयी और मनुष्य को ईंधन मानकर उसमें झोंकती गयी है—उस ...कृति के चंगुल में अब अधिक काल मानव फँसा नहीं रह पायगा। वह प्रतिनिधि मानव अब इस घनी भी आँख खोल रहा और अपने प्रकृत स्वास्थ्य में लौट आना चाह रहा है। निश्चय ही इसके लिए वह पूरब की ओर देख रहा है।

७, दरियागंज
दिल्ली
२१-१०-५०

—जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशकीय सूचना

श्री जैनेन्द्रकुमार के विचारों की मौलिकता मार्मिकता और वेगशीलता के विषय में कुछ कहना हमारे लिए अनावश्यक है। इधर के उनके लेखों, भाषणों और प्रश्नोत्तरों के संकलन क्रमशः प्रकाशित करने की हमने योजना की है। सामग्री का निर्वाचन व वर्गीकरण सांस्कृतिक साहित्यिक, दार्शनिक और सामयिक, इस प्रकार चार खण्डों के अन्तर्गत किया जा रहा है। प्रश्नोत्तरों को अलग से छापा जायगा। यह 'पूर्वोदय' पुस्तक उस विचार वीथि का प्रथम सांस्कृतिक संकलन है। शेष संग्रह भी प्रेस में दिये जा रहे हैं और वे जल्दी प्रकाश में आयेंगे।

—व्यवस्थापक

विषयानुक्रम



पूर्वोदय

: १ :

सर्वोदय

गांधी-नीति सर्वोदय

गांधीजी के जाने के सिलसिले में मेरा ध्यान नीचे लिखी बातों पर जाता है

(१) इधर उन्होंने मृत्यु को मित्र-रूप में याद किया था।

(२) प्रार्थना के समय अपने और अन्य के बीच किसी अधिकारी के अधिकार को आने की इजाजत नहीं दी थी। कहा था, वहाँ कोई चाहे तो मुझे खुले मार सकता है।

(३) कहा था, ईश्वर उठाना चाहेगा तब कोई इन्तजाम मुझे यहाँ रख नहीं सकेगा। और

(४) गोली लगने पर उनके मुँह से 'हे राम' निकला था, हाथ सबके प्रति प्रणाम में जुड़े थे, और जैसे किंचित मुस्कराहट से प्रयाणवेला पर उन्होंने अपनी कृतार्थता व्यक्त की थी।

इन बातों से लगता है कि गांधीजी नहीं पसन्द करते कि लोग हत्या पर और हत्याकारी पर रुकें और राम के नाम की ओर उनके ध्यान को हत्या जैसी तुच्छ घटना पर कुर्बान कर दें। सदा उन्होंने कहा कि ईश्वर की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। गांधीजी का मानना है तो हम यह भी मान लें कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा रही होगी।

गांधीजी के शब्दों को हम याद करें। उन्होंने कहा था, बुराई की हस्ती नहीं है। बुराई अपने आप में टिक नहीं सकती। टिकने को उसे सहारा चाहिए। यह हत्या निश्चय बुराई है। इसका नाम गोडसे कहते हैं। उस गोडसे को जरूर कुछ सहारा था, नहीं तो वह काम उससे नहीं बनता। शायद उसने माना कि वह कुछ बढ़िया काम कर रहा है,

और उसे बड़ाई मिलेगी। उसे बहादुर समझा और कहा जायेगा। इस सहारे पर ही उस पाप को पनपने और चलने की हिम्मत हुई। नहीं तो पाप कातर और स्वयं में मुर्दा होता है।

सवाल है कि क्या हम और आप उस गोडसे के काम के लिए सहारा रहे? यानी गांधीजी के जाने पर जो तनिक भी चिन्तित और विह्वल हैं, उन्हें गोडसे नामधारी की तरफ नहीं, अपने दिल के अन्दर देखना है कि उसके काम को क्या उनका भी सहारा नहीं रहा? गोडसे हम-आप से अलग नहीं है। हम-आप उसके इस काम से, या वैसे दूसरे कामों से अपने को अलग कर लेते हैं, अपना सहारा वहाँ से खींच लेते हैं, तो निश्चय है कि वैसे काम और उन कामों के करनेवाले नहीं रहनेवाले हैं।

सरकार धर-पकड़ कर रही है। भरोसा है, वह अपने भरसक करने में कसर न उठा रखेगी। पर बेचारी सरकार क्या चीज है! आगालों ने सच तो लिखा कि गांधीजी उस दिन, उस हालत, के लिए जीत थे जब [illegible]कार रहेगी ही नहीं, इतनी फालतू वह चीज हो जायगी। यानी सरकार [illegible]ारी का घास घोड़ा है। वह तो बेजान मशीन है। पुलिस, अदालत [illegible] जेल से आगे उसकी पहुँच नहीं है। तभी तो गांधीजी सरकार न थे, [illegible]भी होनेवाले थे। यानी कांग्रेस और कांग्रेसी हुकूमत राष्ट्रीय स्वयं-सेवक [illegible] को एक झपाट में नाबूद कर दे, तो भी चलनेवाला नहीं है। वह [illegible]कारी काम है, असल काम दूसरा है, और वह फिर भी बाकी [illegible]ा है।

एक मत या दल दूसरे दल को दबा दे या मिटा दे, यह बन सकता लेकिन सिर्फ ऊपरी आँखों के लिए। ऊपरी ये आँख सदा धोखा देती [illegible]र धोखा खाती रही हैं। ऐसे हिंसा को हिंसा से काटने की कोशिश [illegible]ी नहीं है। लेकिन उससे गाँठ भी नहीं कटी है, झमेला और उलझता गया है।

यह झमेला हिन्दुस्तान का ही एक खास मसला नहीं है। दुनिया में

भी वही है। इससे गांधी का प्रयोग हिन्दुस्तान में, और उसके द्वारा, हुआ सही, पर वह सारी दुनिया के लिए था। असल में तो सत्य और अहिंसा का प्रयोग गांधी ने अपने प्रति निर्मम होकर और अपने को भगवान का दास बनाकर किया। जागते-सोते, उठते-बैठते, हर क्षण अपना पहरा वह दिये रहे। कभी भी अपने को फिसलने नहीं दिया और उनके अन्दर और बाहर के शैतान को हर पल उनसे ललकार और चुनौती मिलती रहा। भारत का राजकाज उनके सत्य और अहिंसा के प्रयोग का माध्यम मात्र बना। गांधी राष्ट्र या राष्ट्रीयता के नहीं थे, राष्ट्र और राष्ट्रीयता उनकी थी। वह तो धर्म के पथ और राजनीति में भी 'राम-राज्य' के लिए ही उनका प्रयत्न रहा। राम-राज्य, यानी इस दल और उस दल का नहीं इस मत या दूसरे मत का नहीं यह तंत्र या वह तंत्र नहीं बल्कि प्रेम का राज, सबका, पंचायत का राज। किसी एक का नहीं, हर व्यक्ति का राज। वह राम-राज्य जो जरूरत पड़ने पर सहज कल्पित भी हो सके, और जो एकदम विकल्पित हो।

ये प्रयोग संख्या और भूगोल की दृष्टि से कितने भी सीमित हों, वस्तु में सीमित नहीं थे। यानी सारा संसार और आगामी सारा इतिहास अपने लिए उनमें सामग्री और प्रकाश खोजता और पाता रहेगा।

हमें, हममें से प्रत्येक को, अपने तई शुद्ध होना है। बुरे साधु से अच्छा क्या है! इसलिए जो जितना साधु होगा, वह उतना ही बुरे को और बुराई को अपने अन्दर दबेगा। इसी अभ्यास का नाम है अहिंसा। यही है यज्ञ, यही क्रांति यानी निरंतर आत्मशोध, आत्मजागरण और आत्माहुति। कारण, बुराई यदि कहीं है, और बुरे कोई हैं, तो वह तभी है जबकि हमारा उसे सहारा है। चुप रहकर, डरकर, किनारा लेकर हम बुराई से बचते नहीं, उसे निमंत्रण देते हैं। इसलिए स्पष्ट और नम्र असहयोग या सत्याग्रह उद्धत बुराई को सहज में पस्त और धराशायी कर देता है। तब देखने में आता है कि जिसे बुरा माना वही अच्छा बन जाता है।

संस्कृति की सहज सम्भावनाएँ तब किसी में से खिलती और जीवन को परिपूर्ण बनाती है।

कौन कह सकता है कि दुनिया में कुछ भी या कोई भी एकदम व्यर्थ है? फिर भी एक दूसरे को व्यर्थ करने की क्या चेष्टाएँ दुनिया में चल रही हैं, और सम्भावित स्वर्ग को यथार्थ नरक बनाये हुए हैं, सो क्यों! निश्चय ही किसी अमुक को व्यर्थ करने की कोई नयी चेष्टा अनगिनत सदियों में से चले आते हुए मानव विकास को आगे बढ़ानेवाली नहीं हो सकती। उस विकास की साधक नीति तो एक वही हो सकती है जो प्रत्येक को सफल हुआ देखना चाहती है जो एक की सफलता दूसरे की विफलता में किसी तरह भी देखने को तैयार नहीं है। जो इस तरह सर्वोदय में योग देती है, उस नीति का नाम है 'गांधी-नीति'। उस नीति की व्याख्या, व्यवस्था, प्रयोग, उदाहरण और चित्र का नाम है 'गांधी-जीवन' और उस चित्र के सार भाव को समझने के लिए दो शब्द का सूत्र है, सत्य और अहिंसा।

गांधी की महिमा तो रूप में अनन्त है। उसको देखे जाइये, गाये जाइये—भला कहां उसकी थाह है, कहां अन्त है! इसलिए इस विभूतिमय जीवन के ऐश्वर्य में नहीं जाना है। उसकी निपटता को ही जान और पहचान लेना है। वह है, हर क्षेत्र और हर समय की हर समस्या के लिए सत्य और अहिंसा में से समाधान प्राप्त करने की प्रतिज्ञा और तत्परता।

कौन नहीं जानता कि दुनिया आज ज्वालामुखी के मुँह पर खड़ी है। क्या चिनगारी प्रलय भड़का उठेगी, कोई कह नहीं सकता। ऐसे में गांधी ने उठ जाने की और ईश्वर ने उन्हें उठा लेने की जो ठहरायी आत्मिक मानगे कि उसमें भी कुछ गुण ही है। अगर सचमुच गुण है, तो सिवा इसके वह क्या हो सकता है कि इस गहरे शोक के समय भारत, और उसके द्वारा जगत, उस नीति में श्रद्धा प्राप्त करे कि जिसकी ओर विधाता ने एक अथाह अभाव हमारे बीच पैदा करके हमारा ध्यान खींचा है।



२

सर्वोदय की नीति

नये समाज के निर्माण की आज चाह है। इस चाह में यह तो आ ही जाता है कि वह समाज बेहतर होगा। नया हो, इतना भर काफी नहीं है। यों तो कभी पुराने से ऐसा जी ऊब जाता है कि कुछ भी नये पर वह लक्ष्य उतरता है, फिर चाहे पहले से वह बदतर ही साबित हो। आंदोलनों में पड़नेवालों में ऐसे लोग हो सकते हैं, जिनके पास मौजूदा समाज से असन्तोष ज्यादा है, भावी समाज की कल्पना उतनी नहीं है। केवल असन्तोष की यह प्रेरणा विधायक नहीं होती। वह बनाती कम है, बिगाड़ती है अधिक। 'नया समाज' कहकर आज की हालत से असन्तोष तो हम जतलाते ही हैं लेकिन उस असन्तोष के साथ आगामी समाज जो हम लाना चाहते हैं, उसका विचार भी होना जरूरी है। नहीं तो खाली असन्तोष में हम बने को ही गिरायेंगे, उसकी जगह कुछ नया बना नहीं पायेंगे। पुराना ढा देने से नहीं, अभी से नया निर्माण करने लगने से नया समाज बनेगा।

समाज पदार्थ की तरह की चीज नहीं है। वह बेजान नहीं, जानदार है। इसलिए पदार्थ को जिस गणित के विज्ञान के उसूलों से हम तोड़ते जोड़ते हैं, वे ज्यों-के त्यों समाज की रचना में काम नहीं देते। समाज की इकाई आदमी है और आदमी में मन है। इसलिए समाज की रचना का विधान कुछ दूसरे तरीके का होगा। वह मानसिकता से जुड़ा होगा और उसकी नव-रचना बाहर के प्रहार से नहीं हो पायेगी। जैसे लकड़ी को लोहे के औजारों से नाप-काटकर हम चीज तैयार करते हैं, वैसे समाज के मामले में हमारे पास लकड़ी अलग और उसको छाटने-काटनेवाले

औजार अलग नहीं है। हम ही औजार हैं और हम ही वह हैं जिनको गढ़ा जाना है। इस तरह समाज का निर्माण आत्म निर्माण हो जाता है। समाज से हम अलग नहीं और समाज हमसे अलग नहीं है। तब कोई भी उसूल, जो हमारा तो नहीं बल्कि समाज का लेखा-जोखा देते हैं, केवल उसका सुधार और निर्माण करते हैं, इष्ट परिणाम कैसे ला सकेंगे?

चुनाचे काम करनेवालों में दो पाँतें देखने में आती हैं। एक, जो मानते हैं कि सारे साधनों और सारे आदमियों को 'स्टेट' के अधीन में पहले एकत्र कर लिया जाय, फिर सब में सम-व्यवस्था और समान वितरण सहज हो जायगा। बाधा बनने को तब कोई चीज बीच में नहीं रह जायगी। ऐसे लोग संगठन बनाते और राजनीति चलाते और उपजाते हैं। वे दलों की सृष्टि करते और उसी भाषा में उन्नति देखते हैं।

दूसरे जो मानते हैं कि बात ऐसी नहीं है कि सुधारा जानेवाला एक हो और सुधारनेवाला दूसरा हो। समस्या का यह रूप मिलता है कि बखेड़ा बढ़ जाता है। यानी एक विषम चक्र पैदा होता है जो रुकता नहीं। समस्या चेतन की है, जड़ की नहीं। सो चेतना का संस्कार करना होगा। वह काम सदा अपने से शुरू हो सकता है। वह संगठन का नहीं, साधना का है। वह कल पर भी मौकूफ नहीं, इस घड़ी से ही शुरू हो जाता है। ये कहते हैं कि खुदी से हम न चलें, बल्कि सेवा की, यानी दूसरे में अपनी-सी, भावना रखकर काम में हों और उसी भावना से करें—त्याग इकट्ठा करना और बटोरना न चाहें, जरूरी जितना लें और शक्य जितना उपजाते और बनाते चले जायें। बस एक चले, थोड़े चलें, अधिक चलें तो आपही आप नया समाज उग चलेगा। उसमें विषमता न होगी स्पर्द्धा की जगह वहाँ स्नेह होगा, शोषण की जगह सहयोग होगा और आदमी की शक्ति जो एक दूसरे को पीछे और नीचे रखने में लगती है, एक-दूसरे को बढ़ाने और उठाने में काम आयगी। तब हम देखेंगे कि आदमी की समस्याएँ खुद उन्नति करती जाती हैं। समस्याओं का मिटना तो नहीं है। तब तो जिन्दगी ही मिट-

जायगी और पुरुष का अर्थ पुरुषार्थ ही खत्म हो जायगा। नहीं, बल्कि समस्याओं का धरातल उठेगा और नोन-तेल-लकड़ी की वे न रह जायँगी। वे सांस्कृतिक और नैतिक होंगी। तब आदमियों की होड़ आर्थिक न होकर पारमार्थिक होगी।

भारत की राजनीति को मौका नहीं है कि यह माने कि बिना नीति के राज-काज चल सकता है। नीति यानी धर्म-नीति, डिप्लोमेसी नहीं। नैतिकता को याद लेकर स्वयं विग्रह का राजकारण आगे नहीं चलता। साथ ही गांधीजी से यह भी प्रत्यक्ष हो गया है कि अध्यात्म न सिर्फ संसार से विमुख नहीं है बल्कि संसार के अभाव में वह अधूरा और पोला हो रहता है।

इस तरह यद्यपि ऊपर के दो, भौतिक और नैतिक, दृष्टिकोणों का अन्तर गहरा और मौलिक है, फिर भी विवाद की गुंजाइश नहीं रहती। जो चेतना को छोड़कर बाहरी परिस्थिति में जूझ रहे हैं, ऐसे सत्ताधिकारियों से अटके और हिले बिना संस्कारिकों का काम चलते रहना चाहिए। चुनाव का और दलबंदी का काम उस प्रकार का रुझान और स्वभाव रखनेवाले लोग क्यों न करें? ज्यादा-से-ज्यादा यही हो सकता है कि कुछ उसको रचनात्मक न मानें। तो ऐसे रचनात्मक विचार के लोग उस दल-गत काम से अलग रहकर अपना काम किये जावें तो स्वयं उन दलों का सहयोग उनको मिल सकता है। बल्कि रचनात्मक काम एक ही साथ सब दलों को ताकत पहुँचानेवाला है। यह तो जमीन है जिस पर हर बीज को पड़ना और वहाँ से रस लेना है, नहीं तो वह जड़ न पकड़ पायगा।

'रचनात्मक' शब्द इधर बहुत चलता है। जिसको जो करना होता है, उसी को रचनात्मक कहकर वह पेश करता है। गांधीजी ने जो एक नयी भाषा हमें दी, उससे कठिनाई भी कुछ चली है। व्यवहार नैतिक शब्दों के सहारे चलने लगा है। इस वजह से यहाँ तक कहा जाता है कि जहाँ अन्दर पाप हो, वहाँ मुँह पर धर्म पाओगे जहाँ भीतर घात हो, वहाँ ऊपर मिठास होगी। यानी आदर्शवाद और नीतिवाद जहाँ है

ढकोसला है, ऐसा प्रमाद हो गया है। यह कठिनाई बढ़ तो गयी है। कारण, संशय और अविश्वास बढ़ गया है। फिर भी उसे पार करना है, इतने मात्रसे रचनात्मक शब्द और काम से पिंड छुड़ा नहीं लेना है। रचनात्मक वह है जो—

(१) श्रम से पदार्थ की उत्पत्ति या निर्माण करे, और

(२) आपस में सहयोग साधे और उसकी बाधा को हटाये।

दूसरी कोटि का काम भावना और प्रचार का है। जात-पाँत और रंग-रीत का भेद, ऊँच-नीच का विचार, अपने-अपने धर्म का अभिमान ये और ऐसी बातें सहयोग के फैलाव में रुकावट होती हैं। इसी से ये फिर स्वार्थों के पोषण में सहायक होती हैं। इन्हें गिराना और जीतना होगा।

पर मूल रचनात्मक है वह जहाँ श्रम में से पदार्थ फलता है। इसके बिना भावना प्रचार का काम भी बेजान रहता है, ठोस नहीं हो पाता। प्रेम का प्रचार किसने नहीं किया? साहित्य ने किया, धर्म ने किया, सब समझदारों ने किया। पर उस प्रेम के नीचे स्वार्थ भी मजे में पलता गया। जिस प्रेम में अपनी और अपने की कुरबानी हो, वह प्रेम तो विरलों के हाथ आया। अधिकतर वह भावना में समाकर और सूखकर रह गया, और व्यवहार को अछूता छोड़ गया। नतीजा यहाँ तक कि धनी ही धर्मी दीखने का शेष रहा। यानी, भावना को श्रम में उतारे बिना बात पूरी बनती नहीं। भावना तक बात व्यक्तिगत रहती है, कर्म में उतरकर ही वह सामाजिक रूप लेती है। भावना एकाकी है कर्म सहयोगी। भक्त श्रमिक न हो तो हो सकता है कि उसकी भक्ति उत्कट दीखे, पर वह भव-बंधन न काटे। वह असामाजिक भी हो सकती है। कारण, वह अनुत्पादक ही रहती है। अब व्यक्ति पदार्थ को उपयोग में लाये बिना, और इस तरह उसे चुकाये बिना, तो रह नहीं सकता। वह खाता है और कुछ-न-कुछ रखता और पहनता है। तो पदार्थ उपजाने में भी उसका भाग होना चाहिए। श्रम से दूर रहकर भक्ति मानो इस कर्तव्य से भी छूट जाती है। तब वह नैतिक की जगह शायद कुछ भावुक भी हो जाती

होगा। भावुकता अनजाने अपने नीचे एक विशेष प्रकार की निर्ममता की धरती बना या बचा छोड़ती है। वहाँ असामाजिकता की जड़ शेष रहती है और वह कटती नहीं, बल्कि अन्दर-ही-अन्दर फैलती रहती है। ऐसे व्यक्ति में और समाज में घोर द्वन्द्व पैदा हो जाता है। तपस्या स्खलित होती है और मन मालगार बनता है।

इस प्रकार 'रचनात्मक' में मुख्य सार है यथार्थ किया गया उत्पादक श्रम। उत्पादक का मतलब है वैज्ञानिक। केवल श्रम से नहीं चलेगा। न इतना काफी है कि वह श्रम कुछ तो भी उपजा दे। नहीं, उसमें वैज्ञानिक व्यवसाय-बुद्धि को भी लगाना होगा। तब वह सही माना में रचनात्मक हो सकेगा।

शौक की तरह आध घण्टा चर्खा चला लिया और वह सूत भी चढ़ाया, पर सूत का हिसाब नहीं रक्खा, आगे उसके बुनवाने आदि में लापरवाही की तो यह काम भावनात्मक तो हुआ, रचनात्मक पूरा नहीं हुआ। उससे मानसिक सन्तोष कुछ हमको अवश्य होगा पर नये समाज की रचना की नींव नहीं पड़ेगी।

समाज आदमियों की बहुतायत का नाम नहीं है। उस बहुतायत से तो भीड़ होती है। समाज आपसी सम्बन्धों से बनता है। संख्या और भूगोल में सामाजिकता नहीं है। इसलिए आपसी सम्बन्धों में जितनी गहराई, ऊँचाई और घनता होगी, उनमें मर्यादा और व्यवस्था होगी, उतना ही समाज विकसित समझा जायगा। यों माता और पुत्र में अन्तर होता है, दोनों किसी लिहाज से बराबर नहीं हो सकते और नहीं किये जा सकते। आर्थिक बुद्धि चाह सकती है कि दोनों अपने अधिकार में बराबर हों पर माता तब तक तृप्त नहीं हो सकती जब तक पुत्र को उससे अधिक न मिले, न पुत्र तब तक शान्ति पा सकता है, जब तक कि माँ से माँगने और पाने का, अर्थात् छोटे बनने का अधिकार उसके पास सुरक्षित न हो। परिवार की खूबी इसमें नहीं है कि सब में समानता हो। वह तो इसमें है कि उनमें सहज स्नेह हो।

परिवार की यह उपमा भावुकता की लग सकती है। पर इसी को वैज्ञानिक समझकर न चला जायगा तो हो सकता है कि हमारी सब कोशिशें एक नयापन तो हम दे दें, पर ऐसा फलित न दीखे कि वह समाज पहले से बेहतर है। बेहतर वह समाज हो ही नहीं सकता जहाँ पर हरएक की आँख अपने और इसलिए दूसरे के धन पर है। ऐसे समाज में तो विकार मुल्गे ही रहेंगे। ऊपर कानून के जोर से कितनी भी शान्ति और सुरक्षा हो, भीतर तो लपलपाती जीभ होंगी, जो सदा ही खतरा रहेंगी।

समाज में जो असामाजिक और विकारी तत्त्व हैं उनको जड़-मूल से नष्ट कर दिया जाय तो भाव में आसानी के साथ सुव्यवस्था लायी जा सकेगी—प्रचलित मतवाद कुछ इसी लकीर पर सोचते हैं। उनके दल फिर उसी नीति पर चलते भी हैं। फासिस्ट मानवता का दुश्मन है, एक हाथ से उसका सफाया किया कि बाधा ही सब मिट जायगी। इसी तरह इम्पीरियलिस्ट कम्यूनिस्ट, कैपीटलिस्ट आदि आदि शब्द ऊँचे उठाकर एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति और राजनीति चल रही है जो सारे इतिहास में चलती आयी है। वह इस तरह अपनी प्रभुता साधने के लिए शत्रुता उभारती और शान्ति के नाम पर युद्ध मचवाती है। इसको विज्ञान की भाषा ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विशेषण दिया है, जो बहुत उपयुक्त है। उस वृत्ति के लिए यही यथार्थ तत्त्व-दर्शन है और विग्रह ही मार्ग है। अमुक की पराजय की भाषा में यह अपनी (जिसको वह मानवता की कहती है) विजय मानती है।

व्यावहारिक, सांसारिक, आर्थिक और यान्त्रिक-वैज्ञानिक नीति इसके पार जा भी नहीं सकती। प्रत्यक्ष द्वैत उसका चरम सत्य है और अद्वैत यदि उसके लिए है तो केवल माया के रूप में है।

किन्तु एक दूसरी भी नीति है। उसको कहें 'सर्वोदय'। यानी एक के उदय के लिए दूसरे का अस्त चाहना भूल है। सर्वोदय अध्यात्म की नीति के तौर पर तो मान्य रहे, कर्म की नीति के तौर पर वह असफल हो जायगा—ऐसा अनेक धर्मियों का आग्रह है। फिर भी कुछ की निष्ठा

है कि कर्म की भी सच्ची नीति यही है। वे उस सब कर्म का इन्कार करने को तैयार हैं, जो सर्वोदय के काँटे पर सही नहीं तुलता। उनका मानना है कि ऐसा कर्म प्रपंच रचता है, बंधन बनाता है, आजादी नहीं लाता।

गांधीजी के बाद अभी समाज हुआ था, जहाँ कुछ लोगों ने घोषणा की कि वे कर्मी हैं, कर्म में रहेंगे लेकिन उस समस्त कर्म में और उसके जरिये उन्हें सर्वोदय को ही साधित करना और साधना है। सर्वोदय समाज के इस ऐलान में वे सब लोग शामिल थे जो गांधीजी के चलाये चौदह सूत्रवाले रचनात्मक कार्यक्रम में लगे रहे हैं। उनका मानना है कि वह काम हिन्द में होता रहा है सही, लेकिन उसमें तो दुनिया के सवाल का भी हल है और दुनिया उसको मानकर और उस पर चलकर ही लड़ाई से छुटकारा पा सकती और शान्ति और उन्नति के लिए खुल सकती है।

सत्ता पर चलनेवाले समाज में सर्वोदय की और अहिंसा की नीति से राज कैसे चलेगा और समाज कैसे बनेगा या बदलेगा, यह सकल्प से जिसे समझ नहीं आता, उसे समझना सभव नहीं है। तर्क से श्रद्धा आ भी कैसे सकती है? यह बुद्धि की नहीं, हृदय की चीज है। अल्लाह भी एक है और ईश्वर भी दूसरा नहीं है। फिर भी मतवादी बुद्धि दोनों में एक को नहीं देखती, उनमें भेद देख चलती है और अनबन ठान बैठती है। इसलिए यह जो भाषा पर टिककर नाम और नारों के पीछे नहीं चलता, जो सीधा जानता और सीधा देखता है, ऐसा हृदय ही उसको पा सकता और धार सकता है।

गांधीजी के बाद यह अब खयाली चीज नहीं रह गयी है कि अहिंसा से राजकाज और धामकाज भी चल सकता है। हिन्दुस्तान की आजादी खुद सबूत है कि अहिंसा में बड़ी ताकत है जो आत्मिक होने की वजह से भौतिक तौर पर कम नहीं, ज्यादा ही कारगर है।

यह दर्शन, जो विग्रह की भाषा से सचाई को तोलता और लेता है,

झमेले को निपटा पाया है ऐसा कहीं दीखता नहीं है। बल्कि उसे जब मौका मिला तो लड़ाइयाँ ही उससे पैदा हुई हैं।

दूसरा आस्तिक दर्शन है। वह अद्वैत में निष्ठा रखता है और उससे कभी डिगने को तैयार नहीं। उसका सत्य अहिंसा है यानी, यज्ञ, कुरबानी, क्रॉस।

पहले में से मारना निकलता है। मरने के अन्दर खुद मरने से बचने की चाह छिपी रहती है। दूसरा मार बिना मरने की राह चलता है। यह दुनिया को कुछ उन आँखों से देखता है जहाँ दूसरे का फलना-फूलना अपना ही मालूम होता है और अच्छा लगता है। दूसरे की तकलीफ अपनी मालूम होती है और तकलीफ देती है। यह दर्शन दिखाता है कि बालक को पालकर माँ छीजती जाती है और बूढ़ी होती जाती है सही लेकिन बालक के बढ़ने के साथ उसकी खुशी भी बढ़ती जाती है। वह मरती है तो यह भी दरसती है कि बालक में वही जी रही है। यह प्रेम की राह है और दुनिया देखे या न देखे, यह प्रेम ही इस दुनिया को जिलाये रख रहा है। यों बेटों-बेटों में या माँ-बेटों में भी क्या कलह नहीं होती? वह कलह होती ही तब है, जब दोनों के पैरों तले मुहब्बत की जमीन है जिसे वही चूक भूल गये होते हैं।

मुश्किल यह है, और यह बहुत बड़ा खतरा भी है कि प्रेम जब हृदय की और भावना की सचाई है, तब कर्मेन्द्रियाँ अहंकार-जन्य बुद्धि से अनुमति लेकर चल पड़ती हैं। कर्म ऐसे धर्म से छूट जाता है। इसलिए सारे रचनात्मक काम को बराबर कसते रहना जरूरी है कि वह अहिंसा की कसौटी पर सही तो उतर रहा है न। बड़ा फल देनेवाला काम भी जड़ में गलत हो तो फेंक देने लायक है। चरखा अमली अहिंसा है। अहिंसा ही चर्खे में अमल न पा रही हो तो क्या वह सिर्फ लकड़ी ही नहीं रह जाता जो चूल्हे के काम की है?

देश अभी बँट चुका है। हिन्दुस्तान वह रह गया है जो पाकिस्तान से अलग है। गांधीजी के नीचे हम क्या सपना लेते आये, क्या-क्या

सीखते और करते आये थे? क्या हम न सोचते थे कि हिन्दुस्तान में सब कौमें एक होंगी और दुनिया के एके की ही उससे, यानी हमसे, शुरूआत होगी? पर मुल्की और कौमी एकता तो नहीं हुई, उपर से बँटवारा आ गया। लेकिन सचमुच क्या दिल भी बँट गया है? तब तो गांधी सचमुच ही मर गया और यह झूठ है कि वह अमर है। लेकिन अमर अगर एकता ही नहीं है, एकता की यानी और एकता के काम ही अमर नहीं है, तो अमर फिर इस संसार में है क्या?

गांधीजी कहते रहे कि हुकूमत दो बनी हैं सही, हिन्दुस्तान का दिल एक है। वह दो नहीं हो सकता। कारण, हिंदुस्तान का दिल वहाँ है, जहाँ इन्सानियत का दिल है। हमेशा से यहाँ अनेक धर्म, जाति और रंग के लोग आते रहे हैं और एक दूसरे को पहचानना और जानना सीखते रहे हैं। गैर मानकर आये, पर अपने बनकर रह गये हैं। आखिर आपस की दुश्मनी और गैरियत कभी तो मिटनी है, नहीं तो दुनिया का वीरान और खतम हो रहना है। सब भेद रहते हुए यह हिलमिलकर एक बन जाने की कला का उदय भारत में होता आया है। मनुष्य-जाति के निमित्त जैसे भारत अपने समूचे इतिहास में से इसी प्रयोग को साधता आया है। भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, अगर कुछ है तो वह इसी महाप्रयोग का परिपाक फल है। मानो यह भूमि जगत के लिए प्रयोग शाला थी, जहाँ से समन्वय के सूत्र को फलित होना था। ताकि जब मानवता घोर आवश्यकता में हो तब भारत उस परीक्षित प्रयोग को पूरे वैज्ञानिक और सचित्र रूप में दुनिया को देकर साधक हो सके।

सर्वोदय-नीति की तरफ सबकी आशा की निगाहें है। उन आशाओं को उठाने और पूरा करने के लिए विद्यार्थियों को अपने कंधे तैयार कर लेने हैं।



३

सर्वोदय वर्तमान और भविष्य

प्रश्न—राऊ के सर्वोदय समाज-सम्मेलन के बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर—मैं उसे सफल हुआ समझता हूँ। प्रस्ताव एक आया और विनोबा के सुझाव पर प्रस्तावक ने सद्भावना के साथ उसे वापस खींच लिया। यह सफलता का ही प्रमाण है।

प्रश्न—आपका निर्देश शायद श्री गुलजारीलाल नन्दा के प्रस्ताव की ओर है। उसके बारे में आपको क्या कहना है?

उत्तर—प्रस्ताव अपने में क्या बुरा था, पर बात की गहराई तक शायद वह नहीं जाता था। भूमिका में एकाध वाक्य सरकार के लिए आलोचनात्मक थे जो गैरजरूरी माने जा सकते थे। काला-बाजार की बुराई पर उसमें जोर था। जिस उजला माना जाय, उस बाजार में और कालेबाजार में विभाजक-रेखा सरकारी कानून की ही है न? नैतिक कानून से देखा तो खुला बाजार भी कोई खास उजला नहीं रहता। वह भी ज्यादा काला समझा जा सकता है। असल में आज की अर्थनीति ही आधी है। वह नफे के लिहाज से चलती है और सरकार खुद एक व्यापारिक संस्था बन जाती है। सर्वोदय माननेवाले कालेबाजार की बात कहकर उजले बाजार को अछूता छोड़ और उसपर एक तरह अपनी सही मुहर दे दें, इसे मैं तो अपनी तरफ से ठीक नहीं मानूँगा। हुकूमत का काम शायद अपने कानून की रक्षा पर रुक जाता है। सेवक का काम उससे आगे जाता है। तीन हजार या अधिक तनख्वाह पानेवाले की पीठ ठोककर, वाजिब से ज्यादा दाम लेकर घासलेट की बत्ती घर में जलाकर काम

करनेवाले दीन को लंदन में कानून की सजा हो जाती हो, इन्सान की तो सजा विशेष नहीं होती। इस दृष्टि से प्रस्ताव कुछ गहरा जाता था, ऐसा मेरे मन को आश्वासन नहीं है। इससे मेरे मन में उसका समर्थन भी न था। यों अपने में प्रस्ताव निर्दोष था। लेकिन अन्त में तो वह वापस खिंच ही गया। इसलिए उसकी चर्चा क्या? ध्यान में यह रखना है कि कर्म की दृष्टि एक है, धर्म की दृष्टि कुछ दूसरी है। सर्वोदय-समाज में दोनों तरह के लोग हैं। विनोबा की दृष्टि कार्मिक से अधिक धार्मिक है और यह सर्वोदय-समाज के भविष्य के लिए अच्छा ही है।

प्रश्न—उक्त प्रस्ताव से सम्मेलन में काफी गर्मी पैदा हो गयी थी। उसे वापस लेने पर सबको लगा कि सम्मेलन ने कोई विधायक कार्यक्रम उन्हें नहीं दिया। है न?

उत्तर—हाँ, लगा तो। आखिर लगभग दो दिन जिस बात को बीच में लेकर बीते उसको कुछ मूर्त करनेवाला प्रस्ताव ही बीच से खिंच गया, तो लोगों को अवश्य लगा होगा कि जैसे वे अधर में रह गये। बात यह दुखती रग की थी, जैसे उस रग का खुलना और दुखना ही छोड़ दिया गया। कोई-कोई यह भाव लेकर गये हों कि यहाँ बातें बड़ी हैं, लेकिन काम स्थिर है, तो मुझे बहुत विस्मय न होगा। जानता हूँ कि वस्तुस्थिति यह नहीं है। प्रस्ताव पास न करने की दृष्टि के पीछे जबरदस्त धर्म पड़ा हुआ है। भीतर का वह धर्म (डाइनेमिज्म) ऊपर उभरा नहीं दीख पड़ा, इससे हम भ्रम में न पड़ें। असल में सर्वोदय का काम सबको अपनी अपनी आत्मा, इस तरह सर्वात्मा, की तरफ अभिमुख कर देना है। किसी अमुक प्रस्ताव की तरफ सबको खींचने की कोशिश से वह नहीं होगा। इस आत्मालोचन की तीव्रता में से प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो आनेवाली है। आत्मशोध की यह प्रक्रिया ऊपर से गूँगी हो, वाचा में से जब उसके फूटने का समय आयगा और कर्म में जब वह जगेगी, तब जान पड़ेगा कि वह अमोघ है। फिर भी अधिवेशन के व्यवस्थापकों की कर्म-कुशलता की त्रुटि ही मैं मानता हूँ कि लोगों को एक अनिश्चय के भाव में विदा

होने दिया गया। उसी सध्या प्रार्थना के समय विनोबा ने जो प्रवचन किया वही यदि अधिवेशन में हुआ होता, तो लोग अभाव नहीं, एक बिजली लेकर जाते। शून्यता की जगह आगे के लिए उत्साह और स्फूर्ति उनमें भर गयी होती। पर हम मानें कि सेवक उतना शब्द की अपेक्षा में नहीं है, वह आत्मोन्मुख है और बाहर के अभाव को अपनी श्रद्धा से भर देने के लिए कटिबद्ध है।

प्रश्न—आत्मशोध की आपकी बात सही है, पर अधिकांश लोग ऐसा कार्यक्रम चाहते हैं जिसको वे करें और जिसका परिणाम आँखों से दीखे। सर्वोदय-समाज के सेवकों को क्या आप ऐसी कोई चीज सुझायेंगे?

उत्तर—आँखों से दीखने के लालच को बढ़ावा देना अच्छा नहीं है। काम की कमी कहाँ है? अनेक सूत्री कार्यक्रम तो समाज की रचना के प्रस्ताव में ही पड़ा है। प्रश्न काम के अभाव या चुनाव का नहीं है। प्रश्न है कि उस हाथ के काम का और हृदय की श्रद्धा का सूत एक है न? काम में से यह श्रद्धा प्रकट होती है तब काम बहुत छोटा होकर भी बहुत फल देनेवाला है। अन्यथा वह मात्र जड़ता का सूचक हो सकता है। काम में से अहिंसा नहीं निकलती है, अहिंसा में से काम निकलना चाहिए। यानी प्रार्थना ही बाहर रूप लेकर कर्म बने तब वह कर्म अकर्म होता और बन्धन काटता है। वह दृष्टि जो काम पर अटकती है, परिमाण की भाषा में सोचने लग जा सकती है। यही राजनैतिक दृष्टि है। यह आर्थिक दृष्टि है और व्यक्ति की गणना इसमें अंक में होती है। इसमें फल की तरफ निगाह है। यह दृष्टि मिल और कारखाने खड़ी करती है जिसमें आदमी सिर्फ हाथ हो जाता है। यानी वह आत्मा या विवेक नहीं रहता। इधर की भाषा में इतने आदमी का मतलब है—'सो मैनी हैंड्स'। आदमी की संख्या × काम करने के घंटे = फल का परिमाण। यह उसका दर्शन सूत्र है। यह फार्मूला हम जानते हैं, गलत है। आदमी सचेतन है और या तो वह अपना समझकर मन से काम करता है या पराया समझकर खाली मजदूरी के खातिर दमन से काम करता है। हम जानते हैं कि दोनों

हालतों में फल एक-सा नहीं आ सकता। ऊपर परिमाण में एक-सा दीखे भी, पर एक में अहिंसा है, दूसरे में हिंसा है। सामाजिक दृष्टि से एक धर्म है, दूसरा पाप। एक से प्रसन्नता की और सामाजिकता का विस्तार होगा, दूसरे से विकार और वैर फैलेगा। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि काम यह हो कि वह हो, प्रश्न तो मुख्य यह है कि उसमें वृत्ति स्वेच्छित सेवा की हो। मूल में यह वृत्ति अनिवार्य मानकर चलने से बड़े नफे के लिए किये गये भारी आयोजन हमें अनिष्ट ठहरते हैं। वहीं से विकेन्द्रित अर्थनीति अर्थात् व्यक्ति-केन्द्रित श्रम-नीति का सिद्धान्त प्राप्त होता है। इसी से आप पायेंगे कि सर्वोदय-समाज का वजन वहाँ नहीं है जहाँ पर कि वजन रखने और देने के हम आदी बनते आये हैं। राजनैतिक कर्म की धूमधाम में हमारी दृष्टि बहुमुखी जो हो गयी, उसका अनिष्ट चारों तरफ देखने में आता है। सर्वोदय-समाज को उस अनिष्ट से लड़ना है। इसमें वृहत् कर्म की भाषा में उसे सोचना भी क्यों चाहिए?

प्रश्न—सर्वोदय-नीति पर बोलते हुए आपने अपने भाषण में कहा था कि रचनात्मक कार्य करनेवाले अनुभवी लोगों को सरकार में जाना चाहिए और अपने अनुभव का लाभ शासन को देना चाहिए। इससे आपका क्या तात्पर्य है और इसके लिए आपके निश्चयात्मक सुझाव क्या हैं?

उत्तर—हाँ, राजा और प्रजा के बीच इस वक्त भारी नासमझी है। आपसी ग्लानि बढ़ रही है और वहाँ दुर्भाव पैदा होता जा रहा है। राजा इस समय कौन है और प्रजा-सेवक कौन? दोनों ही अपने को गांधी भक्त मानते हैं। यानी एक ही गांधी कुटुम्ब के वे आदमी हैं। तब दोनों में अनबन और दुर्भावना कैसी? यह स्थिति बहुत चिंतनीय है। लेकिन अकारण भी इसे नहीं कह सकते। गांधी की टेक थी—अहिंसा। जिसने उन्हें गोली से मारा, क्या उसके प्रति भी उनके हाथ नहीं जुड़े? और उस समय उनके मुँह से निकला—'हे राम'। उन गांधी को पिता मानने वाले राष्ट्र की हुकूमत का फौजी खर्च घट नहीं रहा है, बढ़ रहा है। ऐसी

हालत में प्रजा सबक सुधरे हों तो उसे भी क्या कहा जाय ! पर क्या सेवक यह मानेंगे कि राजा और प्रजा के बीच तो अहिंसा नहीं हिंसा चाहिए ! दूसरी हिंसाओं को तो लोग अनुचित मानने लगे हैं। जैसे हिन्दू-मुसलमान के बीच, अन्त्यज और कुलीन के बीच, श्रमिक और धनिक के बीच विरोध और हिंसा अनिवार्य और इष्ट नहीं है, ऐसा लोगों को दीखने लगा है। लेकिन राजा के प्रति प्रजा में वैर और विद्रोह जगाया जाय तो जैसे यह अभी भी उचित मालूम होता है। यह हिंसा मानो हिंसा ही न हो, ऐसा कुछ वातावरण बना हुआ है। अर्थ-तंत्र पर आधार रखनेवाला जो पश्चिम का राजनैतिक विचार हमारे बीच आया तो इसने कुछ ऐसी हवा पैदा कर दी कि जैसे विद्रोह सनातन और परम धर्म है। उसी परिपाटी में हमारा पिछला जीवन चला है और चल रहा है। मेरा मानना है कि सर्वोदय-भावना के लिए इस जगह सब से भारी चुनौती है। कुछ मित्रगण जैसे सरकार के प्रति सहानुभूति की कोई जगह रहने देना जरूरी नहीं मानते। गांधी-परिवार में इस तरह का मनमुटाव अच्छा नहीं है। गांधी नीति क्या जीवन की समग्र-नीति नहीं है ! उसमें आदर्श भी है और व्यवहार भी। दोनों वहाँ एकमएक हैं। व्यवहार में अलग आदर्श की चिंता वहाँ नहीं है और आदर्श में जितना हल हो, उसमें ज्यादा व्यवहार का रखना जैसे वहाँ परिग्रह का रखना हो जाता है। उस गांधी-नीति को दुनिया कैसे मानेगी अगर उसके धारक राज-क्षेत्र और प्रजा-क्षेत्र में काम करनेवाले हम लोग, समग्र भाव से नहीं चलकर दिखा सकेंगे ! यानी, जब शासन को शासन के रूप में भी अहिंसा की तरफ चाहे फिर कितनी ही धीमी गति से हो, नहीं बढ़ाते ले जा सकेंगे ? सर्वोदय-समाज के सामने इस समय इससे बड़ा सवाल दूसरा है, ऐसा मैं नहीं मानता। अब क्या हो ? इस बारे में मन मानता है कि मेरी मर्यादा सीमित है। मैं तो समाज का सेवक भी नहीं बना हूँ। अपनी तरफ देखता हूँ तो मन हार जाता है और सदस्य बनने की हिम्मत नहीं होती है। अपने मन की चिन्ता सेवकों के सामने रख देने से आगे मुझे क्या करना चाहिए, सूझ नहीं पड़ता।

राज में उतना ही मैं धर सका था। आगे विनोबा जानें और राजेन्द्र बाबू जानें।

सरकारी नौकर इधर युद्ध पूर्व से पचगुने हो गये हैं। ऐसे हम क्या टोटेलिटेरियनिज्म की ओर जा रहे हैं? नहीं जा रहे हैं सो तसल्ली मन को नहीं मिलती। मेरे मन तो कसौटी वही सनातन सिद्धान्त है कि 'हुकूमत वह उतनी ही अच्छी जितनी कम हुकूमत हो'। पर हुकूमत के पास अपना तर्क है, क्योंकि उसकी अपनी खास कठिनाइयाँ और खास जिम्मेदारियाँ हैं। इस बीच घूसखोरी और भ्रष्टाचार की उसको शिकायत है और सबको शिकायत है। खाद्य के और कपड़े के और रोजमर्रा के काम की दूसरी चीजों के भाव कोई खास कम नहीं हो रहे हैं। देहात में आदमी की मुसीबत वही जानता है। उसके और खाने के बीच जाने कितनी रुकावटें हैं। इस हालत में कुछ नहीं किया जा सका, शासित को असहाय और शासक को स्वच्छन्द ही अनुभव करने दिया गया तो दोनों के बीच का बैर आर विचोली खाई में जीनेवालों का भोगाचार बढ़ने ही वाला है। राज के शीर्ष पर हैं गांधी के लोग और प्रजा के पद-तल में भी हैं कुछ गांधी के ही जन। उन दोनों के ऊपर दायित्व जाता है कि शासक और शासित और राजा और प्रजा के बीच सामंजस्य बना रहे और जो थोड़ा-बहुत स्थानिक भेद बीच में रहे भी तो उसमें सुवास और सद्भाव उपजे। यह नहीं हुआ तो भेद हमको खा जायगा। भेद यानी विग्रह और युद्ध का दर्शन। कम्युनिज्म और क्या है? अर्थ की भाषा में वह स्टेट कैपिटलिज्म (पूँजीवाद) है। नीति की भाषा में वह वैज्ञानिक हिंसावाद है। हम निश्चित और सक्रिय अहिंसा से, और उसकी तरफ, नहीं बढ़ सकेंगे तो हिंसा को हमारे बीच पलते और फूलते हो जाना है। दमन और इन्फ्लेशन (नोटों के फैलाव) से न कुछ रुकता है, न बनता है। इनके सहारे चक्कर सरकार नाग की तरह बढ़ती है। मन की यही डर दुश्चिन्ता थी जिसको लेकर मुझमें राज में बोलने की धृष्टता बन पड़ी। इधर विनोबा और राजेन्द्रबाबू और उधर नेहरू और सरदार, इन चारों का मिलकर कोई तरकीब

निकालनी होगी। दुनिया की आँखों में हिन्दुस्तान का तुला मिलाकर एक तरफ चलना होगा। वह तरफ अहिंसा की होगी तभी दुनिया अपने अंतराष्ट्रीय क्षेत्र में गांधी की अहिंसा को मानेगी। यह हिन्दुस्तान के हाथ में है कि गांधी को या तो दुनिया के लिए निरे सिद्धान्त का आदमी बना दे या उसे सच्चे लोकनायक और लोकत्राता का रूप मिलने दे। मेरा सचमुच मानना है कि इस संकट के अवसर पर हमारा अकिंचन मूक लोकसेवक गांधी के नाम पर चलनेवाली सरकार की सहायता को नहीं आया, या सरकार उस सहायता से लाभ नहीं उठा पायी तो दोनों टूटेंगे। अहिंसा का नाम भी टूटेगा, उसका काम भी डूब जायगा। रचनात्मक और पार्लामेण्टरियन या एडमिनिस्ट्रेटिव काम में भेद हो, लेकिन संकट के समय उनमें हमें अभेद भी देख लेने की हिम्मत करनी होगी। सरकारी अमला वही है, जो था। वह अफसरी भावना में पला पुसा है। काम सफाई की भावना से ही सधनेवाला है। उस अमले का दिल एक दिन में कैसे बदल जायगा? ऐसी हालत में प्रजा के प्रतिनिधि होकर जो अमलदारी के शास्ता बने हैं, उन्हें अपने उदाहरण से सच्ची सफाई दरसाना और सिखाना होगा। इसी से राऊ में मुझे कहना हुआ था कि रचनात्मक कार्य में लगे हुए सेवकों को लाना और इस नये काम में परखना होगा। निश्चय ही वह विचार सबके सामने है और विनोबा और नेहरू के हाथ उस अमल देने का काम पड़ा हुआ है।

प्रश्न—सर्वोदय की कल्पना में तो विश्व-बंधुत्व निहित है, तब राष्ट्रों की राष्ट्रीयता को उसमें क्या स्थान होगा?

उत्तर—विश्व-बंधुत्व मनोरम शब्द है। वह सुनते ही लगता है। लेकिन जैसे व्यवहार की धरती पर न हो, कुछ आसमानी हवा का ही वह हो। इस तरह के विश्व-बंधुत्व से सर्वोदय का काम नहीं चलेगा। उसमें यथार्थता लानी होगी। आज विश्व-राष्ट्रों में बँटा है। राष्ट्रीय सरकार उनकी इकाई है। उन सरकारों का तंत्र अलग अलग तरह का हो सकता है, पर उन्हें एकत्रित करने रखनेवाली और दूसरों के साथ उनके नय

हार-चलन को नियमित करनेवाली चीज राष्ट्र भावना ही है। आगे साम्राज्य पैसे हैं: कामनवेल्थ है, राष्ट्र-समूहों की मंत्रणा है, अभी हाल का एटलांटिक पैक्ट है, कम्युनिस्ट 'कामिनफार्म' है और इन सबके बाद यू० एन० ओ० है लेकिन इनमें से कहीं भी राष्ट्र-चेतना अनुपस्थित या अप्रगट नहीं है। तिस पर यह सब एक या अधिक सरकारों के सम्मिलन से बने हैं। सरकारों के मिलने से लोग मिलते हैं यह समझना सही नहीं होगा। बीच प्रजाओं में पृथक् चेतना बनी चली ही जाती है। हमारा कारोबार आज के नि-नेशनलिटी (राष्ट्रीयता) के आधार पर चलता है। जरूर हम इस सुविधा का उपयोग करते हुए धीरे धीरे इससे उत्तीर्ण होते रहना होगा। यह काम तब तक नहीं होगा, जब तक हर एक राष्ट्र अपने सीमान्त पर फौजी छावनी डालकर अपने को सुरक्षित मानने की आदत जारी रखते हैं। इस राष्ट्रवाद का नारा अपने को सबसे ऊँचा उठाये बिना न रहेगा और उसके प्रचार और प्रसार के नीचे कुछ भी और नहीं सुनने को मिलेगा। ईश्वर की सत्ता को दबना या दुबकना होगा जिससे उसका स्थान राष्ट्र-सत्ता ले। आज हम इसी स्थिति में हैं। सर्वोदय भाव राष्ट्र का स्वीकार कर सकता है किन्तु वहीं तक जहाँ तक राष्ट्र स्वयं भगवत्सत्ता का स्वीकार करता और उस राह पर चलने में सुविधा देता हो। यानी राजनीति वही चले जो निरपेक्ष नीति, धर्म-नीति का अनुशासन स्वीकार करे। ऐसे हिसाब यानी स्पर्धा-विग्रह पर टिके रहनेवाला राष्ट्रवाद गलत ठहरेगा। कारण, वह आगे पीछे अंदरूनी तनाव बढ़ाने में योग देनेवाला होगा। अहिंसा को अपने तईं व्यक्तिगत, सामाजिक, सार्वजनिक, राजकीय और अंतर्राष्ट्रीय-व्यवहार के लिए एक सूत्र बनाना होगा। इसमें व्यक्ति से लगाकर राष्ट्र या राष्ट्र-समूह तक किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं है। मैं स्वयं रहकर हिन्दुस्तानी भी रह सकता हूँ बशर्ते कि इसमें दूसरे देश या इंगलिस्तान के साथ गैरियत या विरोध का भाव गर्भित न हो। आप देखेंगे कि यह बात स्वार्थ को नीति मानने पर किसी भी हालत में घट नहीं सकती। मैं अगर अपने स्वार्थ से चिपटा हूँ तो दूसरे के साथ

मेरा विरोध टल नहीं सकता। ऐसे पास और समस्या उत्पन्न होगी ही। इस तरह राष्ट्रनीति या राजनीति किसी भी वर्ग अथवा राष्ट्र के स्वार्थ के संरक्षण को अंत और इष्ट मानकर चलना चाहेगी, तो रोष से मेल-जोल साधना उसके लिए शक्य न होगा। यानी सर्वोदय एक चेतावनी है संसार के समग्र राष्ट्रों की राष्ट्र-नीति और सब कहीं की राजनीति के लिए। अपनी कल्पना को स्व-अर्थ और विग्रह से हटाकर परम-अर्थ और संग्रह तक वे नहीं उठा पायेंगे, तो उन राष्ट्रों को आपस में लड़ मरना होगा। लड़ना कोई नहीं चाहता, फिर भी लड़ना जो पड़ता है सो कुछ ऐसे ही आंतरिक कारणों से जो उन्हें स्वाधीन छोड़ते ही नहीं हैं। अर्थात् किसी राष्ट्र की राजनीति तब तक नैतिकता की ओर नहीं चल सकती, जब तक उस राष्ट्र का आंतरिक अर्थतंत्र विकेन्द्रित और मुद्रा के स्थान पर श्रम में केंद्रित न हो। आप देखेंगे कि इस तरह सर्वोदय निरा नारा बनने नहीं आया है। उसके पास समग्र दृष्टि है। और वह जबकि राष्ट्र और उनकी राष्ट्रीयता, जिनको उनकी अपनी-अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा थामे हुए हैं, भंग नष्ट करना चाहता है, तब परस्पर सामंजस्य लाने का मार्ग उनके आगे अवश्य खोल देता है।

लेकिन यह सब मनसूबों का अम्बार क्यों? भारत की अपनी राष्ट्रीयता जब तक कॉन्टैनर बनी है तब तक आगे बातचीत बढ़ाने का साहस ही क्या करना! मेरे ख्याल में गांधी की जन्मभूमि, कर्मभूमि और धर्मभूमि यह भारत अपनी राष्ट्रीयता को सही दिशा में नहीं मोड़ सकेगा तो इस भारत को केन्द्र बनाकर उठनेवाला नैतिक अभ्युदय का यह सर्वोदय आन्दोलन भी बहुत आगे बढ़ सकेगा, इसमें सन्देह है। हम सबको इसलिए अभी तो अपनी पूरी ताकत इसमें लगाने में लगाना चाहिए।

☆

सर्वोदय

'सर्वोदय' पर जितना ही कहना चाहता हूँ, कुछ कहने उतनी ही उलझन होती है। उस शब्द को तो आप जानते हैं। दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक 'Unto This last' का अनुवाद किया तो उसे नाम दिया 'सर्वोदय'। गांधीजी के इस नाम पर उनकी नीति में आस्था रखनेवाले लोग पिछले साल सेवाग्राम में जमा हुए तो उन्हें अपनी भावना व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त शब्द जँचा यही सर्वोदय। सीधा उसका मतलब है, सबका उदय। यानी अन्त किसी का भी नहीं। आज के जमाने में इस तरह का सपना रखना और उसे पालना बड़ी हिम्मत की बात है। क्योंकि सूरज उदय होता है तो क्या चाँद को तब अस्त ही नहीं होना पड़ता। इसी तरह समझ या समाज में नहीं आता है कि एक आगे आता रहेगा तो दूसरा पीछे क्या नहीं रह जायगा। यानी एक वर्ग के नाश में और उदय में दूसरे वर्ग का यानी बहुत नाश और उदय मिलता ही है। जो सब मिले हों, या जिन विरोधी हों, तब एक ही समय दोनों का उदय कैसे हो सकता है? असल एक के अन्त के साथ ही दूसरे का उदय है।

इसी तरह खुली आँखों देखते सर्वोदय की बात कुछ सपने जैसी लग जाती है, जो कामकाज में नहीं आ सकता। जब विरोध है, विकलता है, और युद्ध की सम्भावना से डरा गया है—उस में सर्वोदय की बात आसमानी आदमी ही तो करेगा।

लेकिन लोग जो सेवाग्राम में जमा हुए थे, आसमानी लोग न थे। ये ठोस धरती के कामकाजी लोग थे। अपनी जगह कुछ [illegible]

या प्रत्यक्ष व्यवस्था या सेवा के काम में जुटे लोग थे। कवि कोई उनमें विरला ही होगा। कोरे सपनों से उन्हें क्या काम? रचनात्मक श्रम में मन और तन खपानेवाले वे आदमी विग्रह और संघर्ष की सूचना से अनजान न रहे होंगे। शायद उसकी अनिवार्यता भी जानते होंगे। फिर भी साहस बाँधकर दुनिया को उन्होंने कहा कि हमारी रहने की और करने की यानी तमाम जीवन की नीति 'सर्वोदय' होनेवाली है। अर्थात् जो अपना हमसे विरोध मानते हैं उनका भी हम भला चाहते हैं। चाहने के साथ उनका भला करने में ही हम लगे रहनेवाले हैं। यही सर्वोदय है। अहिंसा का मतलब इतना ही नहीं कि हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे और नहीं करेंगे। नहीं, बल्कि हर किसी का भला सोचेंगे और वह भला करने के लिए उनकी तरफ आगे बढ़ेंगे।

उन लोगों की यह घोषणा, इस दुनिया में जहाँ दुश्मनियाँ हैं और दुश्मन को दूर करना मनुष्यता के प्रति लोग अपना पहला दायित्व और कर्तव्य समझ उठे हैं जहाँ इस दुश्मनी का कला का सौन्दर्य और दर्शन की गरिमा मिली है जहाँ उसके समर्थन में सदियों में से मानव-बुद्धि ने शस्त्रास्त्र के रूप में अनुपम चमत्कारी आविष्कारों से हमें सुसज्ज किया है—वहाँ मुट्ठीभर लोगों का यह कहना दुस्साहस समझा जा सकता है। आपसी शत्रुता के घोर रव में उसे सुना-अनसुना किया जा सकता है। फिर भी उन लोगों ने जानबूझकर साहस रखकर यह किया। साथ ही उन्होंने कहा कि उनके अपने लिए जब यह सर्वोदय-नीति सत्य हो है, तब सारी दुनिया के लिए भी उसके सिवा कहीं त्राण नहीं है। हिंसा से हिंसा कटती दीखे, लेकिन शेष जो बच रहता है उसमें हिंसा और भी गहरी पैठ रहती है। सारे इतिहास में क्या यही नहीं दीखता है कि हिंसा के उपाय से जितनी हिंसा कटती है, उससे कहीं ज्यादा उग आती है। यह राह नहीं है शान्ति की और एकता की। शायद हिंसा फल है जो अगली फसल के लिए फिर बीज साबित हो जाता है। आदमी हिंसक नहीं है, लेकिन उसने अपना समाज कुछ ऐसा बना लिया है कि आपस में सहयोग की

सदस्य है, तो मालूम होगा कि जो अपने को कहे वही उसका सदस्य है। क्या उसके नियम हैं, तो जानने को मिलेगा कि सर्वोदय के विश्वास के अलावा कोई भी दूसरा नियम नहीं है। ऐसा समाज क्या किसी ने देखा-सुना है ? पर सर्वोदय-समाज को ऐसा ही बनना है। अधम का, पापी का बच्चे का, बूढ़े का—किसी का उसम बहिष्कार न होगा। लोग, हम आप सभी लोग, सीमाओं से लगकर रहने के आदी हैं। सब मानत हैं कि हम भारतीय हैं, क्योंकि भारत वह है जो एक सीमा पर समाप्त है। इस तरह अहंकार अपने लिए और दूसरे के लिए अवश्य मन में रखते हुए हम जीते और ऐसे जाने-अनजाने द्वेष उपजाते रहा करते हैं। अधिकाश उसीको काम करना और उन्नति करना हम माना करते हैं। इसी से सहसा यह सीमारेखा हीन सर्वोदय-समाज संघटन के रूप में हमारे मन में पूरी पूरी तरह जमता नहीं है। लेकिन सर्वोदय शास्त्र के मनीषियो ने ऐसा ही आकार प्रकारहीन उसे रूप दिया है। सच ही यह अभूतपूर्व रचना है जिसके लिए कोई अनात्मीय ही नहीं बचता है और जिसने इसीलिए जन्म लिया है कि सबको, सभी किसी को, एक आत्मीयता म बाँध ले। अवश्य इसम जगत् का सब प्रकार का नानापन समाकर भी अक्षुण्ण रहेगा। हरएक की निजता को पूरा पूरा वहाँ अवकाश होगा। कोई किसी पर न रोक बनेगा, न आरोप कारण, हर अपना उदय दूसर के, और दूसरा के उदय में से ही देखेगा। ऐसे समाज स यह डर कि वह एक नये आग्रह और नयी अस्मिता को पनपायेगा वृथा ही मानना चाहिए।

उस सर्वोदय-समाज का इसी मार्च महीने में पहला वार्षिकोत्सव हुआ। इन्दौर के पास देहात में फूस की झोंपडियाँ खडी हुई और तीन रोज के लिए वहाँ किसी को याद न रहा कि बाहर समाज में वह बड़ा है कि छोटा है, राजा है कि रक है।

सभा-समाजों के अधिवेशन तो होते ह और वहाँ प्रस्ताव पास हुआ करते हैं। प्रस्तावों से आशा बँधती है और आगे के लिए सकल्प स्थिर होता है। पर यहाँ प्रस्ताव ही कोई पास नहीं हुआ। इसे क्या प्रस्ताव कहें

कि तब हुआ कि साध्य के समान साधन को भी शुद्ध हो रखना होगा। यह भी जाहिर किया गया कि दल विशेष का इसमें पक्ष नहीं है और सर्वोदय में सभी का स्वागत है। बहुत-से दलों से लोगों के पत्र आये थे और कुछ उनमें बहुत ही चर्चित पत्र थे। सभी में चाहा गया था कि सर्वोदय में उन्हें भी सम्मिलित समझा जाय और वहाँ एकत्रित जनों ने हृदय से उन्हें अपना मान लिया था।

वैसे एक प्रस्ताव भी आ गया था। उस पर चर्चा हुई और खासा विवेचन हुआ। अंत में विनोबा ने समझा दिया कि प्रस्ताव का मतलब इतने में ही पूरा हो गया कि उससे हमें आत्म मीमांसा का अवसर मिला। आगे हमें किसी को भी पाश-बन्द नहीं करना है। सबको जब उन सबसे अंदर ही बैंधा हुआ नहीं है क्या कि नए बंधन का कष्ट हम अपने ऊपर लें? आप विनोबा को जानते ही होंगे। सर्वोदय-समाज की वह आत्मा हैं। शायद इसीलिए वह उसके सदस्य भी नहीं हैं। तब पद-पद्धति उनके पास क्या ही पहुँच सकता है।

अब समय होता है और मुझे बात खतम करनी है। सच यह कि मैं घबराया हुआ हूँ। क्या आप घबराये नहीं हैं? बाहर घमसान मचा है। सचमुच लगाव अगर किसी हद नहीं है तो क्या इससे हममें से किसी का जरा भी नाश पहुँचता है? लगाव ऊपर नहीं है लेकिन भीतर क्या वहाँ किसी तरफ से उसमें कमी है? शायद हमें सब तरफ अँधेरा दीखता है। एक था, जिसे हम बाप कहते थे। वह भी हमें छोड़कर चला दिया है। पर दरअसल तो वह ठीक ही गया है। नहीं तो अपनी आँखों देखना और अपने पैरों चलना हम सीखते कैसे?

लेकिन शायद धोखा इसीलिए है कि हम प्रकाश के लिए विह्वल हों और उसके लिए अपने को टटोलें और पायें। अँधेरा घना तभी न होता है जब उसके फटने का वक्त आ पहुँचता है। तब देखते देखते कालिमा में से लालिमा फूटती है, जो उजली धूप का आवाहन बनती है।

क्या आप मानेंगे कि सर्वोदय-समाज क्षितिज पर उठी आशा की यह लाल लकीर है। लाल यह लहू से नहीं है, केवल लज्जा से है। आप चाहें तो यह कुछ देर में भी मान सकते हैं, जब यहाँ से प्रकाश उजला होकर फूट चलेगा। किन्तु मैं आपकी अनुमति से आज ही यह आशा अपने मन में रख लेना चाहता हूँ।



५

पूर्वोदय

सर्वोदय शब्द परिचित है। पूर्वोदय उसी की नकल में निकला हुआ कुछ होगा, ऐसा लग सकता है।

पर लेखक का आशय ऐसा नहीं है। सर्वोदय भावना है। जब भावना अपना जतन चाहेगी तो सर्वोदय का रूप पूर्वोदय होगा, यह उसका विश्वास है।

उदय हम सबका चाहते हैं। पश्चिम का और पूरब का। द्विज का और अन्त्यज का। लेकिन पश्चिम की तुलना में पूरब का और द्विज की तुलना में अन्त्यज का, तो पिछड़े हुए समझे जाते हैं। इसमें सर्वोदय आयेगा तो अनिवार्य पूर्वोदय और अन्त्योदय के आरम्भ से उसे आना होगा।

अन्त्योदय को हम अधिक समझ सकते हैं, लेकिन पूर्वोदय को स्वीकार करने में कदाचित् मानसिक बाधा उपस्थित हो सकती है। कारण, पूर्व शब्द दुनिया को बाकायदा दो हिस्सों में बाँटता है। दुनिया एक है, और एक हो रही है। पूर्व का उदय चाहकर जैसे हम एकता में फाँक देने का वादी हों, मानो पूर्वोदय में पूर्व की ओर की पक्षता का निनाद हो। अतः सर्वोदय को हम अन्त्योदय के रूप में हमें स्वीकार करना अच्छा लग सकता है, तब पूर्वोदय के रूप में उसे देखने से बचने की इच्छा भी हमें हो सकती है।

सही यह है कि पूर्व और पश्चिम दोनों सापेक्ष धारणाएँ हैं। कोई देश नहीं जो एक साथ हमारे पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में न हो। विश्व वृत्त है और दिशा-वाचक धारणाएँ केवल व्यवहार की सुविधा के लिए

हैं। पूर्वोदय में किन्हीं खास देशों का उदय और दूसरे किन्हीं का अस्त इष्ट नहीं है। इष्ट निरपवाद सबका उदय है। इसमें गर्भित है कि यदि कोई एक (व्यक्ति, समुदाय या देश) किसी दूसरे को परास्त करके उसके बल पर गर्वोन्नत है, तो सर्वोदय में उसको अवनत होना होगा। विनत होना सीखने के लिए अवनत होगा। इस अवनति में से विनति और फिर सच्ची आत्मोन्नति आयगी। घमंड अगर है तो उसे गिरना होगा, बाद ही आत्मलाभ की आशा होगी।

इस प्रकार सर्वोदय यदि भावना की ओर से सबके प्रति मधुर है तो घटना की ओर से उसे कठोर होने और निर्मम बन रहने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

आज का जगत् का राजकरण दो समूहों (ब्लाक्स) में बँटा हुआ है। एक पश्चिम का कहा जाता है, दूसरा पूरब का। अमेरिका पश्चिम का नेता है तो रूस पूरब का सूत्रधार है। यह 'पश्चिम' और 'पूरब' यहाँ भूगोल की भाषा के हैं। भौगोलिक से अधिक उनमें सार नहीं है। पूरब और पश्चिम यहाँ अपने से किसी अधिक या अन्यत्र भाव के प्रतीक और सूचक नहीं हैं। यहाँ उनमें बोध गुटबन्दी का है। माथे और युद्ध मानों में दो दल हैं, जो बढ़ा-चढ़ी की दौड़ में हैं। अखाड़े में उतरने की घड़ी आये तो उसके लिए उनकी तैयारी मुकम्मिल बल्कि दूसरे से सवाई मिले, इसमें वे लगे हैं।

लेकिन लेख के शीर्षक का पूर्वोदय इस गुट से वास्ता नहीं रखता। उसकी आत्मा सर्वोदय है जिसका आशय यह नहीं कि संघर्ष न होगा या कि उससे किनारा ले बचना होगा, बल्कि आशय यह है कि एक ओर से अवश्य ही वह संघर्ष सर्वोदय निष्ठा से और अहिंसक श्रम की पद्धति से लिया और झेला जायगा। पूरब, जो पिछड़ा समझा जाता है, जब अपने जन-बल और मन-बल को समझ और पहचानेगा, वह व्यर्थ मशीन-बल की होड़ में नहीं पड़ेगा। इस तरह मशीन के सहारे उन्नत बने हुए पश्चिम को वह वृथा अहं-दम्भ में रहने और भूलने का अवसर न देगा।

मानव-एकत्व और धर्म-समानता जैसी धारणाओं को साथ लेकर मशीन का और मशीनी हथियारों का आदमी से ज्यादा बढ़ाव देने यह नहीं जायगा।

जीवन की एक पद्धति है जिसे पश्चिमी कहकर हम इंगित कर सकते हैं। इस नीति और पद्धति को पश्चिमी समझे जानेवाले देशों में ही चलन हो पूरब में नहीं, सो नहीं। सच पूछिए तो सोवियत-पद्धति पाश्चात्य सभ्य-जीवन धारणा की चरम प्रगति है। वह उसका एकान्त रूप है। पश्चिम की दृष्टि ने इन्सान के रूप में जिम्मेदारी-भरा जीवन का वैयक्तिक इकाई को नष्ट करके एक सुगठित विशाल सामाजिक इकाई का उद्भावन की चेष्टा की, उसका नामकरण हुआ स्टेट। सिद्धान्त बन गया कि स्टेट ही है, व्यक्ति नहीं है। स्टेट की दृष्टि से आवश्यक होगा तो व्यक्ति को रखा जायगा, वर्ना यदि वो अनावश्यक होगा तो उसको खत्म कर दिया जायगा। स्टेट की ओर से कहीं किसी व्यक्ति के पास जीने का दावा समर्थन नहीं है। व्यक्ति से बाहर होकर जो पैदा हुआ समाज है मूल समर्थन सब उसमें है। वही समाज अपने सर्वांगीण तन्त्र के आधार पर फिर स्टेट में साक्षात् मूर्त होगा और उस स्टेट में ही सब स्वत्व और स्वामित्व, औचित्य और समर्थन केन्द्रित होगा।

यह दर्शन पश्चिम में पैदा हुआ। पर उन्हीं देशों का स्वत्व बनकर रह न गया। रूस देश ने, जिसे अपने को पूरब का मानने का सुभीता है, उसे कम या अधिक यत्न से चालू पनपाया।

इस तरह आजकल के राजनीतिक मसलों में पूरब और पश्चिम शब्दों का प्रयोग बहुत सीमित और तंग है। वह भ्रामक भी है। मूल भूमिका का दोनों छावनियों में कोई भेद नहीं है। दोनों जगह एक से हथियारों की तैयारी है, और पूरब पश्चिम विशेषणों का प्रयोग वहाँ केवल देशों की स्थिति और उनके अपना-पराया-परिचय की दृष्टि से है। रूस आज पिछड़ा हुआ नहीं, महिमामय देश है। पिछड़े समझे जानेवाले देशों के प्रति अमरीका का जो भाव है, रूस का भाव उससे कुछ बहुत भिन्न नहीं। इन दोनों मुख्य राष्ट्रों का उन पिछड़े देशों का उद्धार करना है,

उनको सहारा देना है, उन्हें स्वावलम्बी बनाकर अपने पैरों पर खड़ा करना है, समृद्ध करना है, आधुनिक बनाना है, शिक्षित करना है, उनके जीवन-मान को ऊँचा उठाना है, इत्यादि।

जो सत्ताशालियों की यही कृपा है! जिनके पास सामान नहीं है, मशीनें नहीं हैं, अस्त्र शस्त्र नहीं हैं, कल कारखाने नहीं हैं, बढ़िया अखबार, बढ़िया मकान और बढ़िया सामग्री नहीं है, जीवन जहाँ का सीधा-सादा है संक्षेप में जहाँ सभ्यता नहीं है और मनुष्यता नहीं है, केवल जड़ता और पशुता है, ऐसे दीन और दरिद्र देश याचना की आँखों से उन सत्ताशाली प्रभु देशों की ओर देख सकते हैं। परम दया होगी और अतुल उपकार होगा जो वे अस्त्र-शस्त्र से हम लैस करेंगे, हमें मशीनें देंगे और सभ्यता देंगे। हमारे पास सिर्फ कच्चा माल है। उनके अमूल्य उपहारों के बदले में हम बेचारे यही उन्हें भेंट कर सकते हैं।

आज की विश्व की राजनीतिक स्थिति यह है। एशिया के देश पिछड़े हुए हैं। आगे बढ़े हुए देश, जिनके पास सत्ता है और प्रभुता है, उनको अपनी शरण में लिये बिना नहीं रह सकते।

लेकिन यह स्थिति झूठ है। राजनीति का नक्शा बदलने और बह जाने का है। सच यह है कि पश्चिम की जीवन-पद्धति और उसके सहारे बढ़े हुए वे देश जिनको आज हम बड़ा और ऊँचा मान रहे हैं, असल में अपना दिवाला पीटने जा रहे हैं। उस जीवन पद्धति की साँसें अन्तिम हैं और वह टूट रही है। अपना अतीत उस पर स्वयं भारी है, और एक युद्ध पैदा करने से अधिक वह जीवन विधि भविष्य की दिशा में कुछ और नहीं कर सकती। उसमें से उन्नति निकली है अवश्य, मगर ठीक उतनी जितनी अहंता उपजी है। वह विस्मित करती है उतनी ही जितनी आतंकित करती है। वेग उसकी अधीरता है और जोर नशा है।

तथ्य यह है कि जब जब पश्चिम की उस जीवन-पद्धति को मुठभेड़ लेनी पड़ी है पूरब की जीवन-नीति के साथ, तभी तब खीझ में हथियार खींचने के अलावा अपने त्राण का उसके पास और उपाय नहीं रह गया

है। वे हथियार जो कमजोरी के सबूत हैं, बल का भ्रम उपजाते रहे हैं। उन्हीं ने स्थिति में उलझन पैदा की है। हथियारों से प्रकृत अवस्था बदल नहीं सकती और जीवन का सहज विकास उनसे कुछ रुक भले जाये, मुड़ नहीं सकता।

दक्षिण अफ्रीका को लीजिये, जो गांधी-व्यक्ति और गांधी-तत्त्व के निर्माण में प्रयोगशाला बना। भारतीय हीनतम स्थिति में वहाँ पहुँचे थे। अधिकांश 'गिरमिटिया' थे। पर कुछ ही वर्षों में उस देश की धरती में उनकी जड़ें गहरी पहुँच गईं और उनकी स्थिति दृढ़ होती गयी। यहाँ तक कि पहले के वहाँ बसे हुए गोरे लोगों को चिन्ता हो आयी। मुकाबले में वे लोग जैसे हल्के और हीन पड़ते थे। भारतीय कष्ट-सहिष्णु थे, मितव्ययी थे, उद्यमी थे। वे व्यसनाभिमान के शिकार नहीं थे। परिणामतः निरीहावस्था में पहुँचने पर भी वे वहाँ के जीवन में अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगे। पश्चिम की जीवन विधि दूसरी थी। उसमें घमंड का सहारा था। वह कच्ची थी। उद्यम से अधिक उसमें ऐश को स्थान था। इन दो जीवन विधियों के प्रकृत द्वन्द्व में पाश्चात्य को खीझकर अस्त्र का सहारा लेना पड़ा। उन्होंने अवज्ञा, घृणा और तिरस्कार से काम लिया। प्रहार-बल, कानून-बल और अस्त्र-बल का प्रयोग किया। लेकिन गांधी में मूर्त होकर पूर्व की जीवन विधि उस सब हीनता और पशुता के विरोध में अपने को उत्तरोत्तर अविजेय ही सिद्ध करती चली गयी। भारतीय दीन थे, दलित थे, अशिक्षित थे—यह सब ठीक, लेकिन दीन के विरोध में धन गर्वी होना, दलित के विरोध में दमनकारी होना और अशिक्षित के मुकाबिले केवल अक्षर की व्यवसाय-विद्या से शिक्षित होना, अपने आप में कोई बढ़कर बात न थी—यह उस द्वन्द्व से सिद्ध होता चला गया।

जहाँ कहीं भी पश्चिम और पूरब की जीवन-नीतियाँ आमने-सामने आकर संघर्ष में जूझी हैं, दीख पड़ा है कि पश्चिम की नीति जल्दी क्षुब्ध हो आयी है और मानवता को छोड़कर पर उतारू हो गयी है। मानवता से

तब वह दानवता पर उतर आयी है। दानवता के बल से मानवता पर विजय पाना गर्व और श्रेय की बात नहीं है।

आज अस्त्र शस्त्र के, और उनका सहारा लेकर चलनेवाले कानून के जोर से एक कृत्रिम शक्ति-संतुलन की अवस्था को बनाये रक्खा जा रहा है। लेकिन यह कृत्रिमता अधिक काल ठहर नहीं सकती। मानव-जाति का विकास अन्ततः मानवी गुणों की प्रतिष्ठा पर ही टिकनेवाला है। पदार्थ के परिमाण से मानव विकास का माप न होगा। आगे चलकर जातियों और देशों का महत्त्व उनकी अन्तस्सिद्ध मानवता के अनुपात में ही होगा और अस्त्र शस्त्र उसमें किसी तरह बाधा न बन पायगे।

रंग, देश, जाति, भाषा आदि का जब अपने आप में महत्त्व न रहेगा—और यह महत्त्व तो अब आगे आनेवाले २०-२५ वर्षों में प्रायः समाप्त हो जानेवाला है—तब गोरे या काले अमरीकी या आदिवासी होने से ही कुछ निर्णय न हो जाया करेगा, बल्कि उनकी आन्तरिकता अर्थात् संस्कारिता की अपेक्षा में मूल निर्णय होगा। तब पता चलेगा कि भौतिक शक्ति से आत्मिक गुण बड़ी सम्पत्ति है और आदमी वह महान् नहीं है जिसके पास बहुत सामान है, बल्कि महान् वह है जिसके पास बहुत सहानुभूति है।

सामान और सहानुभूति का सम्बन्ध सच पूछिए तो उल्टा है। सामान बढ़ाकर और बटोरकर सहानुभूति से आदमी हीन होता है। सहानुभूति बढ़ने पर सामान अनिवार्यतः ही कम होता जाता है। क्योंकि वह आस पास बँटता जाता है। अर्थात् सम्पत्ति का और प्रभुता का संग्रहीकरण और केन्द्रीकरण मानवता के विकास का लक्षण नहीं है, वह केन्द्रीकरण फिर व्यक्ति में न होकर दल में, संस्था में राज्य में ही चाहे हो। इस अर्थ में सम्पत्ति का और अधिकार को उत्तरोत्तर विकेन्द्रित होते जाना होगा। ... विकेन्द्रित है, वही श्लाघ्य है। अर्थात् सम्पत्ति का और अधिकार का ... वहाँ समान भाव से व्याप्त करते जाना होगा। राज्य में उसके ... होने का मतलब व्यक्ति का उस ओर से हीन और वंचित होना ही ...

व्यक्ति अपने को निर्धन और निरधिकार अनुभव करे—इस तत्त्व और इस आधार पर खड़ा होनेवाला सम्पन्न और सत्ताधिकारी राज्य मानवता के विकास का नहीं, उसके दिवाले का ही द्योतक होगा।

लफ्ज़ 'पूर्वोदय' का यही मतलब है। उसका मतलब है, मनुष्य में नैतिकता का उदय। उसमें से स्वार्थ का तिरोभाव और प्रेम का प्रादुर्भाव। आकांक्षा का अभिलाषा में परिणमन, स्वार्थ का सेवा में उन्नयन और भोग की जगह त्याग-भाव की प्रतिष्ठा।

पश्चिम से जो एक आत्मघातक जीवन-पद्धति की बाढ़ उमड़कर हमारी ओर भेजी जा रही है, जो स्वत्व और स्वामित्व की तृष्णा से अमीर-गरीब को, इस मत को और उस बाढ़ को, सबको उकसा और भरमा रही है—भविष्य उस बाढ़ के हाथ में नहीं है। वह ज्वर है जिसको शान्त होना है। मानवता के स्वास्थ्य को वह बाढ़ सदा के लिए खा न सकेगी। ज्वर चढ़ सकता है पर अन्त में उतरने के लिए। होने को एक युद्ध चाहे तो और हो ले—पर शस्त्रों का नाश एक दिन होगा। एक-दूसरे का नाश और परास्त करने के बजाय एक दिन परस्पर को समझने की और एक-दूसरे के काम आने की श्रद्धा जनमेगी। मनुष्य का मनुष्य होने से बाद, और कुछ, रह न सकेगा।

आज यह श्रद्धा भावुकता समझी जा सकती है, भोली आदर्शवादिता समझी जा सकती है। श्रद्धा में सन्तुष्ट और अपरिग्रही जीवन बितानेवाले को तुच्छ और पिछड़ा हुआ समझा जा सकता है। लेकिन आँधी जब थमेगी और विकार जब उतरेगा, तब जान पड़ेगा कि सर्वोदय मूढ़ता नहीं बल्कि सभ्यता है, जबकि आर्थिक तृष्णा शुद्ध चोरी और हिंसा है। तब जान पड़ेगा कि जिसको जीवन का ऊँचा मान मानकर हम स्पृहणीय गिनते आए थे वह पाप का सारा एक भुलावा है।

मूल्य जब बदलेंगे और दर-असल बदलना उनका अवश्यम्भावी है—जब वे बाहिर की जगह हार्दिक, कृत्रिम के बजाय प्रकृत, एवं स्वार्थमूलों की अपेक्षा सेवाभावी होंगे, तब समय आयगा कि सर्वोदय आरम्भ होगा।

वह यह दानवता पर उतर आयी है। दानवता के बल से मानवता पर विजय पाना गर्व और श्रेय की बात नहीं है।

आज अस्त्र शस्त्र के, और उनका सहारा लेकर चलनेवाले कानून के जोर से एक कृत्रिम शक्ति-संतुलन की अवस्था को बनाये रक्खा जा रहा है। लेकिन यह कृत्रिमता अधिक काल ठहर नहीं सकती। मानव-जाति का विकास अन्तत मानवी गुणों की प्रतिष्ठा पर ही टिकनेवाला है। पदार्थ के परिमाण से मानव विकास का माप न होगा। आगे चलकर जातियों और देशों का महत्त्व उनकी अन्तर्स्थित मानवता के अनुपात में ही होगा और अस्त्र शस्त्र उसमें किसी तरह बाधा न बन पायेंगे।

रंग, देश, जाति, भाषा आदि का जब अपने आप में महत्त्व न रहेगा—और यह महत्त्व तो अब आगे आनेवाले २०-२५ वर्षों में प्राय समाप्त हो जानेवाला है—तब गोरे या काले अमरीकी या आदिवासी होने से ही कुछ निर्णय न हो जाया करेगा, बल्कि उनकी आन्तरिकता अर्थात् सुसंस्कारिता की अपेक्षा में मूल्य निर्णय होगा। तब पता चलेगा कि भौतिक राशि से आत्मिक गुण बड़ी सम्पत्ति है और आदमी वह महान नहीं है जिसके पास बहुत सामान है बल्कि महान वह है जिसके पास बहुत सहानुभूति है।

सामान और सहानुभूति का सम्बन्ध सच पूछिए तो उल्टा है। सामान बनाकर और बटोरकर सहानुभूति से आदमी हीन होता है। सहानुभूति बढ़ने पर सामान अनिवार्यत ही कम होता जाता है। क्योंकि वह आस पास बँटता जाता है। अर्थात् सम्पत्ति का और प्रभुता का संग्रहीकरण और केन्द्रीकरण मानवता के विकास का लक्षण नहीं है, यह केन्द्रीकरण फिर व्यक्ति में न होकर दल में, संस्था में, राज्य में ही चाहे हो। इस अर्थ में सम्पत्ति को और अधिकार को उत्तरोत्तर विकेन्द्रित होते जाना होगा। विकेन्द्रित है, वही व्याप्त है। अर्थात् सम्पत्ति को और अधिकार को सब कहीं समान भाव से व्याप्त करते जाना होगा। राज्य में उसके केन्द्रित होने का मतलब व्यक्ति का उस ओर से हीन और वंचित होना ही है।

व्यक्ति अपने को निर्धन और निरधिकार अनुभव करे—इस तत्व और इस आधार पर खड़ा होनेवाला समाज और समाधिकारी राज्य मानवता के विकास का नहीं, उसके दिवाले का ही द्योतक होगा।

लेखक 'पूर्वोदय' का यही मतलब है। उसका मतलब है, मनुष्य में नैतिकता का उदय। उसमें से स्वार्थ का तिरोभाव और स्नेह का प्रादुर्भाव। आकांक्षा का अभिलाषा में परिणमन, स्वार्थ का सेवा में उन्नयन और भोग की जगह त्याग भाव की प्रतिष्ठा।

पश्चिम से जो एक आक्रमक जीवन-पद्धति को साथ लेकर हमारी ओर बढ़ी आ रही है, जो स्वत्व और स्वामित्व की तृष्णा व [illegible] का, इस मत को और उस वाद को, सबको उठना और मरना रही है—भविष्य उस शक्ति के हाथ में नहीं है। वह ईश्वर है जिसका साथ होना है। मानवता के माहात्म्य को वह चाहे सदा के लिए तो न रोकेगी। चाहे चढ़ सकता है पर अन्त में उत्थान के लिए। होने को एक युद्ध चाहे हो और हो ले—पर शस्त्रों का नशा एक दिन टूटेगा। एक-दूसरे का नाश और पराभव करने के बजाय एक दिन परस्पर को समझने की ओर एक-दूसरे के काम आने की श्रद्धा जगेगी। मनुष्य को मनुष्य होने से कोई, और कुछ, रोक न सकेगा।

आज यह श्रद्धा भावुकता समझी जा सकती है, भोली आदर्शवादिता समझी जा सकती है। श्रद्धा में मनुष्य और जन्तु भी जीवन विज्ञानवाद को तुच्छ और निकृष्ट हुआ समझा जा सकता है। लेकिन आंधी जब थमेगी और विकार जब उतरेगा, तब जान पड़ेगा कि सत्ता और शून्यता नहीं दरिद्र सभ्यता है, क्योंकि आर्थिक तृष्णा युद्ध की जननी और हिंसा है। तब जान पड़ेगा कि जिसको जीवन का ऊँचा मान मानकर हम स्वर्णीय गिनते आये थे वह पाप का कारा एक भुलावा है।

भूल और अन्यों और दरस्सर यदृच्छा उनका अवश्यम्भावी है—जब ये बादल की तरह हार्दिक, कृत्रिम और प्रकृत एवं न्यायनेता की आशा सम्भावी होंगे, तब समय आयेगा कि सर्वोदय आरम्भ होगा।

तब वह दानवता पर उतर आयी है। दानवता के बल से मानवता पर विजय पाना गर्व और श्रेय की बात नहीं है।

आज अस्त्र-शस्त्र के, और उनका सहारा लेकर चलनेवाले कानून के जोर से एक कृत्रिम शक्ति-संतुलन की अवस्था को बनाये रक्खा जा रहा है। लेकिन यह कृत्रिमता अधिक काल तक नहीं चल सकती। मानव-जाति का विकास अन्ततः मानवी गुणों की प्रतिष्ठा पर ही टिकनेवाला है। पदार्थ के परिमाण से मानव विकास का माप न होगा। आगे चलकर जातियों और देशों का महत्त्व उनकी अन्तःसिद्ध मानवता के अनुपात में ही होगा और अस्त्र-शस्त्र उसमें किसी तरह बाधा न बन पायेंगे।

रंग, देश, जाति, भाषा आदि का जब अपने आप में महत्त्व न रहेगा—और यह महत्त्व तो अब आगे आनेवाले २०–२५ वर्षों में प्रायः समाप्त हो जानेवाला है—तब गोरे या काले अमरीकी या आदिवासी होने से ही कुछ निर्णय न हो पाया करेगा, बल्कि उनकी आन्तरिकता अर्थात् सुसंस्कारिता की अपेक्षा में मूल्य निर्णय होगा। तब पता चलेगा कि भौतिक राशि से आत्मिक गुण बड़ी सम्पत्ति है और आदमी वह महान् नहीं है जिसके पास बहुत सामान है, बल्कि महान् वह है जिसके पास बहुत सहानुभूति है।

सामान और सहानुभूति का सम्बन्ध सच पूछिए तो उल्टा है। सामान बनाकर और बटोरकर सहानुभूति से आदमी हीन होता है। सहानुभूति बढ़ने पर सामान अनिवार्यतः ही कम होता जाता है। क्योंकि वह आस पास बँटता जाता है। अर्थात् सम्पत्ति का और प्रभुता का संग्रहीकरण और केन्द्रीकरण मानवता के विकास का लक्षण नहीं है, यह केन्द्रीकरण फिर व्यक्ति में न होकर दल में, सत्ता में, राज्य में ही चाहे हो। इस अर्थ में सम्पत्ति को और अधिकार को उत्तरोत्तर विकेन्द्रित होते जाना होगा। विकेन्द्रित है, वही व्याप्त है। अर्थात् सम्पत्ति को और अधिकार को सब कहीं समान भाव से व्याप्त करते जाना होगा। राज्य में उसके केन्द्रित होने का मतलब व्यक्ति का उस ओर से हीन और वंचित होना ही है।

व्यक्ति उसने का निषेध और निरधिकार अनुभव करे—इस रूप और इस आधार पर बनने होनेवाला संगठन और सत्ताधिकारी राज मानवता के विकास का नहीं, उसके विनाश का ही साधक होगा।

लेखक 'पूर्वोदय' का यही मतलब है। उसका मतलब है मनुष्य में नैतिकता का उदय। उसमें से स्वार्थ का तिरोभाव और स्नेह का प्रादुर्भाव। आकांक्षा का अभिलाषा में परिणमन, स्वार्थ का सेवा में उन्नयन और भोग की जगह त्याग-भाव की प्रतिष्ठा।

पश्चिम से जो एक आक्रमक जीवन-पद्धति का वाद उठकर हमारी ओर भेजी जा रही है, जो स्वत्व और स्वामित्व की तृष्णा से अभर-उभार का, इस मत का और उस वाद का, उनकी उलझन और उलझन रही है—भविष्य उस वाद के हाथ में नहीं है। वह ज्वर है जिसका अन्त होना है। मानवता के स्वास्थ्य को वह सदा के लिए बांध न सकेगी। ज्वर चढ़ सकता है पर अन्त में उतरने के लिए। हाल का एक युद्ध चाहे हो और हो न—पर शस्त्रों का नशा एक दिन टूटेगा। एक-दूसरे का नाश और पराजय करने के बजाय एक दिन परस्पर को समझने का और एक-दूसरे के काम आने की श्रद्धा जगेगी। मनुष्य का मनुष्य होना से कोई, और युद्ध, रोक न सकेगा।

आज यह श्रद्धा भावुकता समझी जा सकती है मानो आदर्शवादिता समझी जा सकती है। श्रद्धा में मनुष्य और अपनापा [illegible] [illegible] का तुच्छ और छिछला हुआ समझा जा सकता है। लेकिन आशा जब घनेगी और विकार जब उतरेगा, तब जान पड़ेगा कि सत्ता सूझना नहीं बल्कि मल्लता है, क्योंकि आर्थिक तृष्णा शुद्ध चोरी और हिंसा है। तब जान पड़ेगा कि जिसको जीवन का ऊँचा मान मानकर हम रहन-सहन गिनते आए थे वह पाप का भारी एक भुलावा है।

पूरब जब पलटेगी और दस्तूर बदलना उनका अभिप्राय है—जब वे धार्मिक की जगह हार्दिक, कृत्रिम के स्थान प्रकृत, और नागरिकता की जगह ग्रामीणता होंगे, तब समझ आएगा कि सर्वोदय आरम्भ होगा।

र एक को अपना हित दूसरे के अहित में न दीख पड़ेगा। उस समय निश्चय ही पूरब के देश, जो पिछड़े समझे जाते हैं, आगे होंगे और आज की उन्नति महज तमाशा दीख पड़ेगी। वह काल कब आयगा—कहना कठिन है। पर वह नहीं आयगा तो प्रलय को ही आना होगा।

अफसोस यह है कि पूरब के देश विलायती प्रचार में भूलकर पास में निधि रहते भी अपने को कंगाल मान रहे और परमुखापेक्षी बन रहे हैं। यह शोचनीय हालत जनता की उतनी नहीं है जितनी नेताओं की है। उन देशों की हुकूमत अपनी प्रतिभा और आत्मा के अनुसार वहाँ के समाज की रचना करने में नहीं लगी है, बल्कि विलायती ढंगों की नकल में पड़ी है। विलायती को इसी से महत्त्व मिल रहा है और उनका भ्रम टूटने म समय लग रहा है। पर पिछले दो एक सदियों की बनी हुई वहाँ की सभ्यता की इमारत इस तेजी से तहस-नहस हो रही है कि भ्रम का अधिक काल पोसना सम्भव नहीं है। मानव-सम्बन्धों के तन्तु छिन्न भिन्न हो रहे हैं और वहाँ की सामाजिक संस्थाएँ रुग्ण और विपत्-काल के नीचे गिरी जा रही हैं। केवल एक ढाँचा है 'स्टेट' जिसके बल पर वहाँ का अस्तित्व कायम है, और व्यवस्था जैसा कुछ वहाँ दिखाई देता है। किन्तु स्टेट की बुनियाद म अहंता और शत्रुता है। विरोध में से वह अपने को सशक्त करती है और इस तरह वह संस्था स्वयं आत्मघात की ओर बढ़ रही है।

क्या हम आशा करें कि जो भविष्य नाना दुस्सम्भावनाओं के बीच में से भी स्पष्ट और अमोघ होकर झाँक रहा है हमारे राजकाजी नेता लोग उसको देखेंगे और अपने को अनुकूल दिशा म डालने का प्रयत्न करेंगे!



२

गांधीजी

विराट मानव गांधी

गांधीजी पर इतने लोगों ने इतना कुछ लिखा है कि नयी बात कहने को रह नहीं जाता। उनकी हर घड़ी पर अनगिनतों की निगाह है। वह तो खुली किताब हैं। कुछ उनमें नहीं जो उनके पास नहीं, जो सबकी सम्पत्ति न हो। उनके जीवन में दुराव नहीं है। भीतर उनके गहरे में जो रहता है कथनी और करनी में बाहर आकर वही सार्वजनिक इतिहास की थाती बन जाता है।

फिर भी कौन उन्हें जानने का दावा कर सकता है? धूप की तरह सब के आगे वह खुले और साफ हैं, पर अबूझ और अगम भी हैं। इसी से इतना जानकर भी गांधीजी के बारे में और जानने की प्यास दुनिया की कभी नहीं बुझती। उनके नाम के साथ जुड़ी हर बात सिक्के की तरह हाथों-हाथ चलकर भी कभी बासी और झूठी नहीं होती। इस तरह उघड़े होने पर गांधीजी एक रहस्य हैं, जिसे दुनिया कभी न जान पायगी।

पहले कहानियाँ हुआ करती थीं, जिनमें राक्षस दैत्य-दानवों के प्राण किसी पक्षी या ऐसी ही किसी जान में समाये रहते थे। वहाँ इसे जाना कि वहाँ उनका अन्त हुआ। ऐसे राक्षस पता जैसा की बात की बात में हजारों कोसों दूर से खतम कर दिया जाता था। यह बात सिर्फ गप न मान ली जाय। हर व्यक्ति की एक कुंजी है। आदमी जो यों पहेली-सा अनबूझ है उस कुंजी से हल किये सवाल की तरह खुला रहता है।

अब दुनिया के हम-तुम प्राणियों के नाते में इस कुंजी का खोजन

और पान में बहुत कठिनाई नहीं आती। कोई हम में धन चाहता है, कोई मान, किन्हीं को कीर्ति ही काफी होती है। कुछ की कामना कामिनी में है। मतलब हम ससारी लोगों की चाह ससार के इस या उस तल में गड़ी हुई पायी जा सकती है। जहाँ जिसकी चाह है, वहीं उसकी थाह है। इस तरह आपस में एक-दूसरे को जाँचने और एक-दूसरे का मान थिर करने में हमको दिक्कत नहीं होती।

सीधे तो ससार का ताना-बाना विचित्र लगता है। असख्य आदमियों की जिन्दगी के तार आपस में मिल-जुलकर, कट-छँटकर क्या नमूना बुन रहे हैं, कुछ समझ नहीं आता। लगता है, उनकी गतियाँ भिन्न हैं और विरोधी भी। पर मनस्तत्त्व विज्ञानी बताते हैं कि वे गतियाँ न भिन्न हैं, न विरोधी हैं। शास्त्रियों के बारे में आसानी से वे नियम प्रस्तुत कर सके हैं जो बता देते हैं कि एक आदमी और सब आदमी, क्या और किन प्रेरणाओं के अधीन विविध वर्तन कर रहे हैं। पर कुछ लोग मानो नियमानुसार नहीं होते हैं। विज्ञान और शास्त्र उन्हें न ढूँढ़ पाता न पकड़ पाता है। वैज्ञानिक प्रणालियों से उन्हें पाना असम्भव होता है। इससे व्यक्ति से ज्यादा उन्हें घटना कहना होता है। उनकी कुंजी कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती। उससे या तो लोगों का खीज होती है जिस वे उस आदमी को मारकर पूरी करते हैं। या नहीं तो विस्मय में घुटनों गिरकर उसकी पूजा करते हैं। इससे दूसरा उनके लिये बन नहीं पाता। तब तो वह मौत ही उन्हें हाथ नहीं आता जो उस जीवन का और उस जीवन के कृत्यों को थामता हुआ कहा जा सके। ऐसे पुरुष अवतार होते हैं और लोक तत्काल तो अलौकिक कहकर उनसे अपनी छुट्टी मान लेता है, पीछे इतिहास में से फिर फिरकर उनका आविष्कार करके अंगीकार करने की कोशिश करता है। गांधीजी ऐसे ही अभाग पुरुषों में से मालूम होते हैं। उनकी कुंजी लाख खोजने पर भी दुनिया के हाथ नहीं पड़ती।

गांधीजी ने एक बार कहा कि मेरा सब कुछ ले लो, मैं रहूँगा। हाथ काट लो आँख-नाक उड़ा दो तब भी रहूँगा, सिर जाय तब भी

कुछ पल रह जाऊँ, पर ईश्वर गया है तब तो मैं उसी दम मरा हुआ हूँ। यह बात पढ़ने में चमत्कारी लगती है। पर क्या समझ में भी वह बँधकर बैठती है?

ईश्वर के मन्दिर हों और उसकी पूजा हुआ करे यहाँ तक तो ठीक है। इससे आगे नित्य प्रति के काम से सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धि और तर्क की भाषा उस ईश्वर को अपने में कहाँ बिठाये? परिणाम यह कि जीवन नीति, जो ईश्वर पूजकता से आरम्भ होती है, गांधीजी तक सीमित जान पड़ती है। व्यवहार से गांधीजी की समाज-नीति अनमिल और असिद्ध लग आती है। उसमें तर्क का साफ सूत नहीं मिलता।

लौकिक के और गांधीजी के बीच का यह भेद मौलिक है। किसी तरह के ऊपरी तर्क से उस भेद को उड़ा देना, पाट देना खतरनाक हो सकता है। गांधीजी का और दुनिया का, गांधीजी का और कांग्रेस का सम्बन्ध पूरी तरह इस मूल भेद को स्वीकार और पहचान कर नहीं बना। और इससे कठिनाई उपस्थित होती रहती है।

गांधीजी के बारे में यह कहा जा सके कि वह व्यवहार के आदमी नहीं हैं तब तो मुश्किल ही हल हो जाती है। ऐसे बहुत लोगों को दुनिया जानती है जो वास्तव के बजाय स्वप्न में रहते हैं। आदर्शवादियों, सन्तों, कवियों को अपने में समाना और पचाना दुनिया के लिए कठिन नहीं होता। पीठ की ओर से भी वे दुनिया के अपने होते हैं। कुछ भाग में भूलते हैं तो शायद वे योग में भूलना चाहते हैं। गांधीजी के बारे में वैसा समझने का सुभीता दुनिया के बुद्धिजीवी लोगों को मिल सके तो वे बच जायें। पर ऐसी सुविधा किसी ओर से उन्हें नहीं हो पाती। गांधीजी कुछ हैं तो कर्मठ हैं। वस्तु के क्षेत्र में उनका प्रभाव अमोघ है। ठोस रुपया जो तमाम वास्तविकता का आज प्रतीक है उनके इशारे पर यहाँ से वहाँ होता रहता है। इस तरह गांधीजी बौद्धिक के लिए एक चुनौती ही बने रहते हैं। उस बौद्धिक के बनाये शास्त्र और चलाये सब शब्दों के आगे गांधीजी मानो ऐसा प्रश्न चिह्न बनकर खड़े हो जाते हैं कि हटाये नहीं हटते।

धर्मवादी और ईश्वरवादी, जो संसार को बन्धन मानकर उससे उत्तीर्ण होना चाहता है, गांधीजी की तरफ आशाभरी निगाह से देखता है। कारण, वह बहुत अंशों में ऐसे उत्तीर्ण और मुक्त पुरुष प्रतीत होते हैं। पवित्रों में वे पवित्र हैं और जितेन्द्रिय और संयमी और महात्मा। पर यही पवित्रता का साधक उस समय गांधीजी को नहीं समझ पाता जब वे राजनीति के प्रपंच में दीखते हैं और तरह-तरह के कर्म की विराट् योजनाओं का संचालन करते हैं।

दूसरी ओर संसार में (उसके सुधार में) लगे हुए प्रकार प्रकार के वादी और कर्मीजन इस कर्मण्य और प्रतापी पुरुष गांधी को देखकर उत्साहित होते हैं। जो फल उसने प्राप्त किया, जो लोक-संग्रह वह कर पाया, उसको श्रद्धा और पृथक् पृथा से देखते हैं। जो सत्ता उन्हें इष्ट है, गांधीजी को वह सिद्ध है। लोकनायकों में इस तरह वह मूर्धन्य है। फिर भी राज को लेकर तरह-तरह के जितने तन्त्रवाद मिलते हैं और समाज के निमित्त से नाना प्रकार के जो समाजवाद और साम्यवाद मिलते हैं, उनमें से किसी एक को छोड़कर किसी दूसरे का समर्थन गांधीजी से नहीं मिलता। राज की दिशा में वह गांधी चाहता है तो 'राम-राज्य' चाहता, जिसके तन्त्र को किसी वैज्ञानिक भाषा में नहीं रखा जा सकता। समाज चाहता है तो ऐसा कि जिसमें किसी की कोई सम्भावना नष्ट न हो और प्रेम स्नेह से रहें। धन रहे, धनपति रहें, श्रम रहे और श्रमिक रहें। राजा हो और वह चाकर भी हो, चाकर हो और वह राजा से कम न हो। इस तरह की अवैज्ञानिक और भावुक बातें जो कवि को शोभा दें अर्थनीति और कूटनीति के संचालक और समाज निर्माता पुरुष के लिए अटपटी लगती हैं। यह आदमी जो शासन और व्यवस्था की तरह-तरह की समस्याओं के बीच मुख्य सूत्रधार की भाँति घिरा रहता है, हर साँझ-सवेरे प्रार्थना में दोहराता है 'यह संसार कागद की पुड़िया', यह संसार झाड़ और झंखाड़। जो संसार और समाज प्रत्यक्ष कर्मी के लिए एक और अकेला इष्ट है वही संसार और समाज इस आदर्श (निष्काम) कर्मी के लिए ... है। वे

प्रमात ही चाहे होते हों, इस व्यक्ति को टिकने के लिए तय भी कारण नहीं है।

इस तरह जीवन के विभक्त दर्शनों के लिए अध्यात्मवाद और नीतिकवाद के लिए गाधी एक ही साथ प्रश्न और समाधान हैं। राजनीति और धर्म में भेद है, उनमें विग्रह भी है। लेकिन गाधीजी उन दोनों के अभेद हैं और संग्रह हैं। वह विभक्त जीवन-नीति जिससे ससार और ससार का इतिहास चलता रहा है और चलता है, गाधीजी उसके लिए एक संदेश हैं। वे सूचक हैं जीवन की अखण्डता के, उसके ऐक्य के। साथ ही वह जीवित उदाहरण हैं इस सत्य के कि जीवन संयुक्त, समग्र और सिद्ध है तो वहीं जहाँ वह निम्न है। अपने को उत्तरोत्तर सेवा द्वारा शून्य और प्रार्थना द्वारा दीन बनाते जाना ही परिपूर्णता पाने का साधना मार्ग है।

इस मूल निष्ठा को पाकर फिर गाधीजी का बस एक ही प्रश्न रहा। वह यह कि वह अपने समूचेपन और तन को लेकर उस निष्ठा से तन्मय हो जाएँ। इस एक और अकेले सूत्र और मन्त्र के सहारे वह गाधी जो हर तरह दीन थे आज सर्वसम्मत रूप से जगत् के मुकुट पुरुष हो गये हैं।

इस सूत्र को हाथ में लेकर फिर उन्होंने अपने को और अपनों को पूरी तरह छोड़ दिया। होना है सो हो। चिन्ता का अपने सिर रखने वाला मैं कौन? क्या समझ, और क्यों अनन? चराचर जगत् को चलाने वाला जागता हुआ बैठा तो है, तब उसके आदेश को सुनते रहना और वैसा करते रहने से अन्यथा मेरा काम ही क्या रह जाता है?

और इस नीति से चलकर कुछ विलक्षणताएँ अनायास गाधी का स्वभाव बन आयीं। वे उन्हें सामान्यता से अलग कोटि में ले आती हैं। जैसे—

* वह निर्णय तत्काल करते, तर्क पीछे पाते हैं। परिस्थितियों की ओर से अपने को नहीं समझाते। सीधे स्वधर्म के बारे में अभ्यन्तर से आदेश प्राप्त करके परिस्थितियों को तदनुकूल बनाने में लग जाते हैं।



२ औरों के लिए सोचना, करने से बचना होता है। गांधीजी के लिए सोचना ही करना है। सोचने और करने के बीच कोई अन्तराल नहीं आ पाता।

३ परिस्थितियों को उनसे उत्तर मिलता है। कारण, परिस्थितियों की भाषा में वे कभी सोचते ही नहीं। परिणाम यह कि कोई परिस्थिति उन पर टिकती नहीं, उन्हें घेरती नहीं और वे सदा गतिशील हैं।

४ असफल शब्द उनके कोष में रह नहीं जाता, क्योंकि आदमी के हाथ धर्म और तदनुसार कर्म ही है, फल नहीं।

५ कर्म की सीमा है। उस सीमा को संकल्प पर क्यों लिया जाय? इसलिए सत्संकल्प को कभी ढीला करने, उसमें विकार या आरोप लाने का अवसर ही नहीं है।

मूल श्रद्धा की इस भूमिका से आरम्भ करके, निरन्तर अभ्यास और साधना के सहारे एक ऐसी अगमता और अडिगता उन्होंने प्राप्त कर ली है जो बड़े-से-बड़े संकट में उनका साथ नहीं छोड़ती। मनुष्य में से उनका विश्वास कुछ या कोई नहीं तोड़ पाता। चारों ओर छल-कपट है, मार धाड़ है, लूट खसोट है, उसका बर्बर-से-बर्बर रूप सामने है, फिर भी उस आदमी को गांधीजी इस कोशिश में छोड़ नहीं सकते कि उसमें के असली (दैवी) मनुष्य को वे जगा सकेंगे।

इस तरह इस दुनिया में रहकर गांधीजी मानो सदा परीक्षा में हैं और उनके हाथों में राजनीति भी सदा परीक्षा में है। आज तो परीक्षा विकट है। अब भारत और पाकिस्तान दो अलग राज्य हैं और ब्रिटिश राष्ट्र-परिवार के अंग हैं। ऐसा जब हो ही गया तो उस पर सोच विचार करना बेकार है। वैसा राजी से हुआ। दोनों राजनैतिक पार्टियाँ, लाचार होकर ही सही, ब्रिटेन के साथ उस विभाजन को मानने को राजी हुईं। उसके बाद जो हुआ उसकी भयंकरता बखान को शब्द नहीं मिलते। आग ऐसी लगी कि सदियों के सम्बन्ध स्वाहा हो गये। वैर और बदला धर्म बन आया। दुनिया का धर्म तात्त्विक तो नहीं हो सकता

उसे तो तात्कालिक होना पड़ता है। इससे शास्त्रों की सीधी उपदेश की बातें उसके लिए असंगत होती हैं। इस तत्काल धर्म का अलग ही शास्त्र होता है। और क्या अनगिनत शूर-वीर, नेता और नायक नहीं हो गये जो शस्त्र लेकर रण में जूझे हैं और इतिहास ने, काव्य ने, नाना महिमाओं से जिनको मण्डित किया है। यह आग अब भी अतीत की नहीं बन गयी है, बुझी अभी नहीं है, तेज हो रही है और गांधीजी उसके बीच में हैं।

और दुनिया की क्या हालत है? किसी अखबार का कोई कोना काफी है कि इस बारे में वह आपके भ्रम को दूर कर दे। मानो तेज़ वेग से वह चली जा रही है विनाश के मुँह में। राजनेता, जो समझते हैं कि वे दुनिया को चला रहे हैं, भीतर सन्देह, भय, ईर्ष्या और बैर को पाले रहते हैं। मानो चारों तरफ बारूद भरा है जो भभकने भी लगी है। बस देर का इन्तज़ार है कि कब भक् से भभक उठे। 'एटम-बम' के जमाने में तैयारी की बात क्या की जाय! 'एटम-बम' है, तो उसके आस-पास हाइड्रोजन बम जैसा मिलती-जुलती दूसरी ईजाद भी तो कम नहीं है!

इसके मुकाबले दूसरी तरफ आधी से ज्यादा दुनिया में धन का दिवाला है और नाज का अकाल है। मुल्क हैं जो साहूकार हैं और अनाज से भरे-पूरे हैं। पर यही मौका क्या व्यवसाय के लिए भी अचूक नहीं है?—यह व्यवसाय जो सहायता को धर्म समझता है, साथ ही सौदे को अधर्म नहीं समझता।

दुनिया की और देश की ऐसी हालत की हलचल के बीचों-बीच गांधीजी बैठे हैं। अहिंसा उनका धर्म है, दर्शन है, नीति है, सब-कुछ है। लेकिन यह अहिंसा उस दुनिया के लिए है, जो हिंसा से काम लेती आयी है। जिसका ईमान अब भी हिंसा में है, जो धर्म और कर्तव्य की राह से हिंसा में पहुँचती है, जो बहादुरी और पराक्रम उसी में देखती है, जो समझता है कि अहिंसा सिर्फ जीवन की चुनौती से बचना और भागना है। स्थिति इतना विषम है कि अहिंसा कुछ वैसा ही तिरस्कार और मजाक का

२

संयुक्त मानव

आस्तिक के लिए अवतार के ज्ञान में विश्वास करना सहज है। वह मानता है कि यहाँ ईश्वर का चाहा होता है, इससे अनुकूल सब उसी का है। आदमी तो साधन भर है, भगवान् के आदेश का पालन उसका काम है। उस अर्थ में हम सभी उसके भेजे यहाँ हैं। जो यहाँ अपने मन-बुद्धि कर्म को पूरी तरह उसे सौंपकर स्वयं शून्य बन, उसके लिए अवतार से दूसरा क्या विशेषण आस्तिक के पास हो ?

गांधी ऐसे ही पुरुष थे। प्रतीक की भाषा में नहीं, विज्ञान की भाषा में उन्हें अवतार कहना होता है। उनकी साधना महान् अथवा गुणवान आदि बनने की नहीं थी। वह निर्गुण, अकिंचन और एकदम शून्य होने के प्रयत्न में रहे। इस कोशिश में अणुभर भी उन्होंने अपने को नहीं बचाया। साधना के इस रूप को ऐहिक बुद्धि से समझना असम्भव है। भक्ति ही उस मर्म को पा सकती है। ऐसी मीरा भक्ति में अपने को लीन करने की सतत चेष्टा करनेवाला पुरुष अनायास फिर कैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनिवार्य और अनन्य बन उठा, यह किसी भी और तरह समझ में नहीं आ सकता। गांधी उस बुद्धि के लिए सदा पहेली रहेंगे, जो जगत् को जगदाधार के बिना समझती है। अन्यथा गांधी द्वैत से त्रस्त जगत् के त्राण का एक समन्वित समाधान है।

गाँधीजी का काम ईश्वर का काम था। यानी आत्म-शुद्धि का काम था। जीवन के तट तक उसमें एक बाधा थी, वह बाधा थी शरीर। शरीर रहते वह पूरी तरह शून्य कैसे बनते ? उनका उद्यम तब तक अधूरा था। कैसे जीना, यह तो वह बता गए पर मरना कैसे, यह

भी तो उन्हें बताना था। जीने से मरने तक की पूरी जीवन-नीति का चित्र उन्हें इस दुनिया को दे जाना था। यह बाधा इस तीस जनवरी को उनसे दूर हो गयी। उनका काम भी तब एक सपूर्णता को आ गया। जीवन यज्ञ है और मृत्यु को भी यज्ञ के रूप में ही आना है। मृत्यु जीवन के अनुरूप ही एक बलिदान हो। तमाम जीवन ही बलि है। अग्नि की भाँति वह पवित्र हो और कृताय भाव से उसका होम किया जाय, यही है सच्ची जीवन-पद्धति। गांधी-जीवन और गांधी-मृत्यु उसी का सचित्र व्याख्या है।

जीते वक्त अवसर था कि हिन्दुस्तान उन्हें अपना नेता कहे दवत्व दिया करे और कुछ लोग अपने को उनके पास और दूसरे बहुतेरे अपने को उनसे दूर मानें, कुछ अपना उन पर अधिकार मानें, दूसरे अपने को वचित मानें, कुछ सौभाग्यशाली बनें कि वे गांधीजी के नजदीक हुए, तो कुछ और कुछ को मन्दभागी मानें कि वे गांधीजी के पास तक न पहुँच पाये। इस तरह दूर-पास, अपने-पराये के दायरों से उनको मुक्ति न थी। पर वह तो एक के होकर सबके बनना चाहते थे। दुनिया के न रह जायें इस कीमत पर उन्हें हिन्दू का या हिन्द का नहीं रहना था। विभेद में से अभेद उन्हें पा लेना था। लेकिन उस अभेद में मानवता का विभेद बचता ही था। इसका उपाय यही था कि अन्तिम बाना रहे फिर और शून्य में मिलकर वह एक ही साथ सबको समान भाव से सुलभ बन जाय। अब हिन्दू, काग्रेसी या हिन्दुस्तानी इत्यादि दावे किसी तरह उन पर पा नहीं सकता। किसी के गर्व को उनका सहारा नहीं हो सकता, न किसी के लिए उनमें निराशा का बहाना। गांधीजी आज केवल प्रकाश और आत्मा के रूप में सामने है और वह उन्हीं के हैं जो उन्हें अपने अन्दर रखने को तत्पर है।

इस अवस्था से अलग गांधीजी के महत्त्व को समझने की मेरी इच्छा नहीं है। कर्म में गांधी विविध हैं और बुद्धि भेद के लिए मार्ग छोड़ते हैं। सत्य ही ईश्वर, प्राप्त रूप में यही अहिंसा—इस दो शब्द की

रिमायावाली अनन्य निष्ठा से आगे चलकर उनका अनंत लीलामय
जीवन हमको प्राप्त होता है। वह चमत्कृत कर देता है। उस जीवन का
अनुकरण नहीं हो सकता। यह गांधी के साथ इतना विशिष्ट है कि
इतिहास में किसी भी भाँति दोहराया नहीं जा सकता। लेकिन जो सर्व
सामान्य है, सब काल और सब भूमि के लिए है, सबके लिए सहज और
सुलभ है, वह है उनकी सत्यनिष्ठा और अहिंसक तत्परता।

हर आदमी की अपनी परिस्थिति और अपनी भूमिका है। धर्मनिष्ठा
का प्रयोग भी वहाँ जा होगा दूसरी किसी परिस्थिति अथवा व्यक्ति के
लिए उपयुक्त न ठहरेगा। इस तरह एकमेव ईश्वर निष्ठा से इस ब्रह्माण्ड के
अनन्तानन्त व्यापार चल सकते हैं और उन सबके विभिन्न स्वरों से एक
ऐसे समवेत संगीत का स्वर प्रकट हो सकता है कि सूर्य-ग्रह-नक्षत्र-तारा
मण्डल सब मुग्ध हो जायँ। इसके विपरीत व्यक्ति की निजता से, उनकी
अपनी-अपनी स्वार्थ भावना से, जगत् का कर्म-चक्र चलता हो तब संघर्ष
और संघात का ताण्डव मच उठे हर दस-बीस साल बाद महासंहार की
लीला अनिवार्य हो उठे लोग डरते और डराते हुए जीयें और इस डर
के तले अपने को दल में जुटाकर दूसरे का द्वेष और वैर पोसें—तो इसमें
अचरज क्या!

गांधी को उसी मनोलोक का, सतयुग का या मागदभूमि का वासी
कहना होगा जो कोलाहल में संगीत जगाता है, कुगाह में से मार्ग उप
जाता है, जड़ को चेतन करता है और संघर्ष में से सहयोग जुटाता है।

तो क्या कभी सचमुच राम-राज्य होगा? क्या ऐसा कभी होगा कि
राजा वही हो जो सबका चाकर हो और प्रजा का हर आदमी अनुभव करे कि
वह मालिक और राजा दास है। कि औसत आदमी इतना स्वस्थ और
समर्थ हो कि दूसरे के स्नेह में अपने को समाने की ही सोचे, उसमें अपना
स्वार्थ साधने की तनिक भी न सोचे? कि, संक्षेप में, राजा और राज्य
हो ही नहीं, सब धर्मी हों और स्नेही हों और इस तरह से सब एक-दूसरे
के प्रेरक और स्वावलम्बी हों!

रहा है। निश्चय शस्त्रास्त्र के मुँह में युद्ध है। लेकिन राजनेताओं के और उनके राजकरण के भीतर में, जहाँ मानव-सामान्य का हृदय निवास करता है उस बहुसंख्य जनता में, गहरा संशय घर कर गया है। जान पड़ता है उग्र सभ्यता, यानी राजनीतिक सभ्यता की यह आखिरी चमक है और उस अवसान को सूझ रहना है। एक नये युग का सूत्रपात होनेवाला है और गांधी का बलिदान उसी का बीजारोपण है। उसका मर्त्य जीवन यदि समाप्त हुआ है तो इसीलिए कि मानवता के आगामी विकास में वह अमर हो उठे। गांधी से एक काल का अवसान और दूसरे कल्प का उदयारम्भ होता है। उसका नाम सर्वोदय कल्प।

मानव-व्यापार में अब तक एक असिद्धि देखने में आती थी। जैसे वह सूत्र हाथ न आता था, जो विभक्त मानव को संयुक्त कर दे। व्यक्ति के प्रकट कार्य-कलाप में और उसी की अन्तर आकांक्षा में विग्रह और विरोध रहता था। हर व्यक्ति अपने अन्दर मानसिक द्वन्द्व लिये चलता था। समूह रूप में यही विग्रह धन और जन का, शासक-शासित का, पूँजी-श्रम का, यानी वर्ग, राष्ट्र अथवा श्रेणी विग्रह का रूप लेता था। इस विग्रह विरोध को खतम करने के लिए जो उत्कट और अनिवार्य प्रयत्न हुए, देखा गया कि वे वाद या उस मत (यानी व्यक्ति) की अधिनायकता (Ideological, i.e., Dictatorial Totalitarianism) में निष्पन्न होते हैं। फिर एक का नाम कम्युनिज्म है और दूसरे का नाम फासिज्म या नाजीज्म, यह भाषा की ही बात है। अन्तर्विरोधों को हठात् बाहर मिटाने के इन कृत्रिम प्रयत्नों से हालत सुधरी नहीं। समस्या और विषम ही हो आयी, अभीष्ट और दूर ही जाता दिखाई दिया। सहसा प्रतीत होता था कि व्यक्ति जो व्यक्ति का शोषण करता है और समूह-समूह का, तो उसका एक-सा मरण चाहा और करने की नीति पर चली की जानेवाली संस्था, यानी स्टेट, उन साधनों के बल में कला और विज्ञान के सब आविष्कारों की मदद से सभी व्यक्तियों और वर्गों के ऊपर होकर, जबर रूप धरती

पर उतार ला सकती। पर वैसा न हुआ और [illegible] आदमी के रक्षण से अधिक आदमी का भक्षण कर निकली।

हिसाब तो साफ और सीधा था। पर परिणाम में उलझन पड़ गयी। पहले विलासी और अहंकारी [illegible] हाकिम बन बैठे। सोचा कि [illegible]-बुद्धि से बढ़कर [illegible] हुकूमत के मुँह पर [illegible] शान्ति स्वार्थों से पैदा होनेवाला विग्रह रह न सकेगा। [illegible] का राज्य कायम होगा और इस तरह समस्याएँ काबू में आ जायेंगी।

वह हिसाब नहीं उतरा नहीं है। [illegible] मशीनों का धड़ाधड़ मानव के लिए भोग्य और उपभोग्य सामग्री [illegible] सकता था [illegible] बनाने में लगाना पड़ा [illegible] पहले [illegible] और सामान बनाने की होड़। [illegible] मग की प्रचुरता सामने [illegible] समस्या का सवाल घिर आया। उन्नति करते जाने में हम [illegible] दुश्मनी पैदा करते जाते हैं, इसका पता न रहता था। [illegible] वह चीज सामने आ गयी।

परिणाम यह है कि धन जितना [illegible] उतनी ही [illegible] है। उन्नति उतनी ही हुई है जितना [illegible] हथियार बढ़े हैं। निश्चय ही हम दैन्य और [illegible] बचाने के लिए उधर लगे चले थे। क्या पिछली दो लड़ाइयाँ इसीलिए नहीं लड़ी गयी थीं कि लड़ाई का अन्त होगा और सुख-चैन का रास्ता खुलेगा! युद्ध में हमारा-आपका आदर्श ऐसा हो तो नहीं है, जैसा कसाईखाने में जानवरों का जिबह करना। वहाँ उसमें निष्ठा है। लोग सब सिद्ध मानते नहीं हैं [illegible] अपने [illegible] युद्ध का काम करते हैं। माना शिव कर्तव्य की राह की बाधा को [illegible] हटाते हैं। यानी एक आदर्श महत् भावना के सहारे ही युद्ध लड़ा जाता है। इस तरह एक धर्म शान्ति और एक लम्बी परम्परा बन गया है जो युद्ध की हिंसा को विशालकाय बनाती है। वहाँ मारने की वीरता और मारते हुए मरने को अमरता कहा जाता है। ऐसे महत् [illegible] के भाव से लोग सामने वाले को दुश्मन कहकर एक-दूसरे का गला काटने का काम करते रहते हैं।

जरूर उस हिसाब में चूक है। जरूर वहाँ कुछ छद्म और छल है, जहाँ एक-दूसर की हत्या धम बन जाती है। वह छल कहाँ है, पकड़ में न आता था। धार्मिक जन थे और धमशास्त्र थे, पर वे तो सिद्धान्त की दुनिया के लिए थ। काम-काज की और मेरे-तेरे की दुनिया में वे बेकार साबित होते थे। सन्त इस तरह स्वतन्त्र था कि वन में या कुटिया मे सन्त बना रहे और शास्त्रों का भी अवसर था कि स्वर्गिक सिद्धान्तों की अवा चीन व्याख्या स वे भरे पूरे रह। जैसे असल जगत् उनसे अछूता था और उसके अलग नियम थे।

गाधी ऐसे समय सिद्धान्त में से नहीं, ठेठ व्यवहार में से आविर्भूत हुआ। वह बैरिस्टर था और मामले-मुकदमे निपटाता था। उसकी व्यव हार की अनोखी सफलता ही गतानुगतिता को चुनौती बनी। उसने बताया कि साधन नहीं है भिन्न साध्य स, और एकता लाने के लिए विग्रह की या सुरक्षा लाने के लिए हिंसा की राह नहीं चलना होगा। कल जो हम चाहते है, आज उसी के बीज हमें बोने होंगे। एक अनेक से अलग नहीं है, इसलिए समाज के सुधार या परिवर्तन के लिए अपने सुधार परि वर्तन से शुरू करना होगा। दूसरा वही है जो मैं हूँ, इसलिए अपनी इज्जत के लिए दूसरे की इज्जत करनी होगी। अपने मत के लिए दूसरे के मत की रक्षा करनी होगी। परिवतन आयेगा तो बाहर स नहीं, सब क अन्दर से वह आयेगा। इसलिए असल परिवतन हृदय में और हृदय का होना है। और वह किसी सख्या के, शस्त्र के या मत के बल से नहीं होगा, आत्मा के बल स होगा यानी कष्ट सहन और क्षमा की शक्ति से होगा।

बात ये नयी न थीं। प्राचीनता जितनी पवित्र और सुन्दर थीं। सिद्धान्त के समान ये ध्रुव थीं। लेकिन गाधी ने अपन रक्त से उन्हें अंगारे की तरह लाल बनाया। धड़कते दिल की तरह व हरएक में जा बैठीं। उनकी सचाई की आग सब के अन्दर मे आप ही जग आयी। परिणाम यह कि सीधे-सादे हाड-माँस के लोग गाधी के सग से ऐसी ऊँचाई तक उठ आये कि पीछे स्वयं उनको ही विश्वास न होता था।

एक समूचे देश ने गांधी के जादू के नीचे शान्त रहकर एक जबरदस्त साम्राज्य को जीता और आजादी पायी। साबित हुआ कि आदमी में कितनी भी दुर्बलता हो, बर्बरता भी हो, लेकिन गहराई में उसके देवत्व भी पड़ा हुआ है।

परम मूल्यों और ध्रुव सिद्धान्तों का गांधी के हाथों यह जीवित पुरस्कार और सघर्ष की राजनीति में धर्म की नीति का यह सफल प्रयोग बीसवीं सदी की दुनिया के लिए अनोखा है। उसने एक बार उस खाई को पाट दिया जो धर्म और कर्म को अलग रखे हुए थी। व्यवहार ही अध्यात्म का क्षेत्र बना और राजनीतिक शास्त्र में रामराज्य के आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। भारत-जैसे महादेश की सक्रिय राष्ट्रनीति का चलाते हुए भी उन्होंने रामराज्य की टेक रखी। रामराज्य, राजशाही या लोकशाही आदि कुछ भी नहीं है। वह तन्त्रबद्ध नहीं है। उस राज्य के अर्थ को यहाँ तक सोचा जा सकता है कि वह राज्य ऐसा रहे ही नहीं।

इस तरह गांधी राजकरण को चलाते हुए भी समन्वित और केन्द्रित सत्ता, यानी स्टेट का विकेन्द्रित भी करते गये। सत्ता की अपेक्षा व्यक्ति को उन्होंने अधिक ही महत्त्व दिया और कहा कि हुकूमत की सफलता इसमें है कि वह रहे ही नहीं। उस जीवन-क्रम को उन्होंने घटित करके बताया, जहाँ आत्यन्तिक व्यवस्था रहती है, फिर भी अलग से कोई व्यवस्थापक आवश्यक नहीं होता। आदर्श समाज स्वयं अपने भीतर से नियमित होगा, बाहरी नियामक उसके लिए अनावश्यक हो रहेगा।

गांधीजी संक्षेप में उस जीवन-नीति के मूर्त उदाहरण हैं, जिस पर व्यक्ति और समाज का आगामी निर्माण होगा। उस नीति के कुछ ये सूत्र बन सकते हैं

(१) आवश्यक है कि व्यक्ति का आचरण उसके अन्तःकरण से टूटा हुआ न हो। प्रेरणा उत्तरोत्तर व्यक्ति को अपने अन्तरतम से प्राप्त करनी चाहिए। व्यक्ति के अन्तरतम में ईश्वर का निवास है। इसलिए जो वहाँ से अपना आदर्श और नियम प्राप्त करता है वह सतत कर्मी होकर सर्वथा

निर्लिप्त बनता है और इस तरह उसका स्वयं कर्म अतुल फल देता है।

(२) इन्द्रियों को बुद्धि में, बुद्धि को मन में, मन को आत्मा में युक्त करके जो विराजता है, वह जगत् को प्राप्त करता है।

(३) सत्य ही एक है, इसलिए अपने से शेष के प्रति व्यक्ति का सम्बन्ध अहिंसा का ही हो सकता है। ऐसे ही सत्य का साक्षात्कार सम्भव है।

(४) तत्पर अहिंसा यानी सक्रिय सेवा बिना सिद्धि नहीं। भक्ति उसी सकर्मक रूप में उपलब्ध बनती है।

(५) मनुष्य जैसे भोजन बिना नहीं जी सकता वैसे ही श्रम बिना उसे जीने का हक नहीं आता। श्रम वे वह भोजन-वसन रहे। यह श्रम सेवामय और यथार्थ ही हो सकता है। ऐसा न करके जो लेता है, वह चोरी करता है।

(६) मानव-सम्बन्ध अहिंसा पर बनेंगे तो उनके बीच श्रम का और श्रम के फल का आदान प्रदान जहाँ तक हो सीधा और सुगम होगा। उपज और खपत के बीच विनिमय के माध्यम के तौर पर धनी का और सिक्के को आने की कम-से-कम आवश्यकता होनी चाहिए।

(७) समाज की रीढ़ है उत्पादक श्रमिक। पदार्थ का सच्चा मालिक भी वही है। शेष उसके बाद आते हैं। इस तरह व्यवस्थापक और हाकिम बोझ हैं, जिनको धीरे धीरे हटना और स्वयं श्रमिक बनना है।

(८) प्रकट हिंसा अन्दर के द्वेष और वैर आदि का परिणाम है। व्यक्तियों, श्रेणियों और समूहों में विग्रह और प्रतिस्पर्द्धा का सम्बन्ध भ्रान्त है। उस आधार पर प्राप्त किया गया कोई परिवर्तन शुभ और स्थायी नहीं हो सकता।

(९) अनीति और अधर्म से युद्ध ठानना ही जीवन की प्रगति है। अनीति से नैतिक होकर और अधर्म से धार्मिक होकर ही सामना किया

जा सकता। उसका उपाय है, आपसी विचार विनिमय, कष्ट-सहन और फिर आवश्यक होने पर असहयोग और सत्याग्रह।

(१०) दूसरे को कष्ट देकर उसे बदला नहीं जा सकता। कष्ट सहकर ही उसमें हृदय-परिवर्तन लाया जा सकता है। क्योंकि अन्त मे वह मुझसे भिन्न नहीं है इससे मेरी सच्ची व्यथा उसे छुए बिना न रहेगी। फिर भी वह श्याम राम का है और अपनी व्यथा में से मैं अपनी शांति पाता हूँ, यह मेरे निम्न उपलब्धि है। उपवास इसी आत्म-पीड़न की धर्म-नीति का एक रूप है।

(११) भाषा, भूगोल, रीति-नीति, आचार-व्यवहार आदि से हमारे बीच अन्तर पड़ गए हैं, उनका मान देकर भी हम अविचलित श्रद्धा रखनी चाहिए कि हम सब एक ही कुटुम्ब के हैं और सब अपनी अपनी भाषा और धर्मों के द्वारा एक ही भगवान को पूजते हैं। जीना मरना भगवान् की इच्छा से होता है इससे मृत्यु को हिसाब में लाकर सीधे से टले हम नहीं जा सकते। मृत्यु तो मित्र बनकर आती है और उसे हँसते हुए भेटना है।

(१२) झगड़े नासमझी से होती हैं। इससे धीरज और दूसरे में विश्वास नहीं खोना है। विश्वास रखने से व्यक्ति विश्वसनीय बनता है। और ऐसे कोई ठगाया भी जाय तो हानि नहीं है।

संयुक्त व्यक्तित्व का साधन-सूत्र सदियों से खोजा जा रहा है। भारत में जिसे योग-साधना कहें, वह यही व्यक्तित्व का एकीकरण है। मानस शास्त्री आभास पाते रहे हैं कि व्यक्तित्व अगर अपने में पूरी तरह गठ जाय तो उसमें से कितनी न विराट् शक्ति प्रस्फुटित होनी चाहिए। अणु के अन्तर्भेदन से जो शक्ति आज प्राप्त कर ली गयी है, वैज्ञानिकों को कई पीढ़ियों से उसका अनुमान था। विभक्त अणु (Split Atom) की संयुक्त मानव की तुलना में बिसात ही क्या है! मेरा मानना है कि इस सम्पूर्ण एकीकरण (Integration) का व्यावहारिक विधान साधक को गांधीजी के जीवन प्रयोग से प्राप्त हो जायगा। उनकी वाणी

और लेखनी में उसकी टीका भी पूरी मिल जाती है। सत्य का यह समग्र और वैज्ञानिक प्रयोग एक ऐसा चमत्कारपूर्ण आविष्कार है कि उसके प्रकाश और परिणाम में सहस्राब्दियों तक अनेकानेक शास्त्र, साहित्य और संयोजनाओं को स्वरूप मिला करेगा और मानव मानवोत्तम बनने की राह पाता रहेगा।



३

गांधीजी का अखण्ड योग

गांधीजी के बारे में बहुत लिखा गया है। उनका काम हर तरफ फैला है, और उसके अनगिनत पहलू हैं। उनके दान को शब्दों में बाँधना ऐतिहासिक के लिए आसान नहीं होगा। कोई क्षेत्र नहीं जिसमें उनका असर समाया न हो। उनका प्रकाश दूर तक और हर कोने में पहुँचा है। उनकी छाप समय पर गहरी है और हिन्दुस्तान के तो इस चौथाई सदी का इतिहास उन्हीं की साँस से बना है।

लेकिन उनके बाहरी काम और असर के जरिये गांधीजी की असलियत तक पहुँचने में कठिनाई भी हो सकती है। धूप में सूरज को देखने से आँखों में चकाचौंध छा जाती है। तब सूरज ठीक ठीक नजर नहीं आता। उसी की रोशनी की झलमलाहट हमें उससे परे रखती है। इसलिए अक्सर लोग, धूप पाकर जिनका सूरज से मनोरथ समाप्त नहीं होता और जो उससे आगे भी सूरज की सचाई पाना चाहते हैं, उपाय करते हैं जिससे सूरज और उनके बीच की धूप उन्हें आँखों न लगे। ऐसे ही मुझे प्रतीत होता है कि गांधीजी की असलियत को पाने के लिए उन्हें अगर राजनीति में से न देखना, या उससे असंलग्न होकर देखना ज्यादा ठीक होगा। उनके आन्दोलनों अथवा उनकी संस्थाओं में से उन्हें देखना धुएँ में से आग या पत्थर में से आत्मा को देखने के समान हो सकता है।

हमारी भाषा स्वार्थ की है। भाषा का प्रयोग है कि अमुक ने हमें प्रकाश का दान दिया। कृतज्ञता से यह कहना ठीक ही है। पर सत्य में हम जानते हैं कि प्रकाश, जो दाता कहा जाता है, खुद में तो वह जलता

ही है। प्रकाश को वह नहीं जानता, जलने को ही जानता है। अथवा इस स्वयं जलन का ऐसा प्रतिफल है कि जिसमें अपने-आप में कोई अभीप्सा नहीं है, केवल एक अनिवार्यता है।

गांधीजी के जमाने में रहकर हमारे लिए सम्भव नहीं है कि हम उनके प्रति कृतज्ञता की भाषा से बच सकें। उन्होंने हमको हमारी मनुष्यता की सुधि दी है हमारी आँख खोली है। उस हिंदुस्तान में हम रहते हैं जिसकी रगों में उन्हीं के जगाये प्राण दौड़ रहे हैं। इससे अभिनन्दन और अनुगमन द्वारा हम गांधी को मानकर प्रसन्न होते हैं।

लेकिन अगर हम कृतज्ञता के भाव से ऊपर जा सकें और गांधीजी की महिमा में न रहकर उनकी सत्यता में उतर सकें तो हमें स्तब्ध रह जाना होगा। तब शायद भय से हमारा मन रुक जायगा। 'नेता' मान कर उनके प्रति जय-जयकार का गुंजार तब हमसे कदाचित् न फूटेगा। बल्कि हमारा हृदय एक गम्भीर अनुकम्पा और अज्ञात भीतिका से भर आयगा। हमारी आँखें तब भीग आयगी और लगेगा कि हमारी नीचे की धरती शून्य हो गयी है और एक अतल में हम खाये जा रहे हैं।

गांधीजी का बाहरी रूप मोहक है। लेकिन उनकी भीतर की व्यथा कथा डरा देनेवाली हो सकती है। वहाँ एक ऐसा महाशून्य है कि जिसकी थाह नहीं और विरले को उसमें झाँकने की हिम्मत हो सकती है।

व्यक्ति जो करता है वह उसी का रूप है जो वह है। दोनों ही परना है। कर्म का मूल भाव में है। इससे उसकी पहचान भी वहीं है। यानी आदमी के महत्त्व की परख इसमें नहीं है कि वह क्या करता है, बल्कि यह तो इसमें है कि वह क्या है।

इसी भाँति गांधीजी की यथार्थता राजनीति में नहीं धर्म में दरसेगी होगी। राजनीति कर्म-गत है, धर्म भाव रूप। इससे धर्म प्राण होकर ही राजनीति श्रेय है अन्यथा वह मिथ्या है। धर्म से रिहीन कर्म बंधन की सृष्टि करता है। जैसे धर्म के मूल में 'अकर्म' नहीं रहता, अहंकार रहता

है। गांधीजी का कर्म स्वभाव-सहज है। यहाँ तक कि उसका कर्तृत्व भी गांधीजी पर नहीं है। वह-से बस काम इसीसे उनकी नींद का अटका नहीं पाता है।

इस प्रकार गांधीजी का कर्म गांधीजी का माप नहीं है। इस जगह वह सब देशों और इतिहासों के राजपुरुषों से अलग हैं। राजकीय महापुरुषों का कर्म विराट् किन्तु व्यक्तित्व स्वल्प होता है। मानो उस कर्म की विराटता के पीछे मन प्राण की क्षुद्रता छिपी रहती है। किया जानेवाला काम देश-देशान्तर-व्यापी, किन्तु करनेवाला मन अहम्-सीमित होता है। धार्मिक पुरुषों की बात इससे न्यारी है। कर्म ऐसे व्यक्ति के पास शून्यवत् है और भाव पर उसके कोई निजता की सीमा नहीं रह जाती। इससे ऐसे व्यक्ति का स्वल्प कर्म कालान्तर में बृहत् फल उत्पन्न करनेवाला हो जाया करता है।

गांधीजी की दूसरे अधिकांश प्रसिद्ध कर्मण्य पुरुषों से इस जगह पृथक्ता है। छोटे काम या बड़े काम जैसी भाषा उनके पास नहीं है। काम कोई भी छोटा नहीं है, इसी से न कोई बड़ा है। [illegible] में आन्तरिकता से पृथक् बाहरी काम जैसी वस्तु ही उनके पास नहीं है। यह उनकी विशेषता संसार के कार्मिक पुरुषों से उन्हें अलग करके इतिहास के आत्म और मुक्त पुरुषों की पंक्ति में रख देती है।

गांधीजी की सम्पूर्ण सत्यता की झांकी के लिए उनके रचनात्मक कार्यक्रम के अध्ययन से अधिक उनकी निष्ठा के मनन की ओर झुकना होगा। क्या वह यज्ञ ज्वाला है जिसमें कि उनका क्षण-क्षण जलता और उजलता हुआ बीतता है? क्या व्यथा है जो उन्हें धारण रखती है? अचूक और हर दिन प्रात-सन्ध्या प्रार्थना के रूप में उस व्यक्ति में से उच्छ्वसित होनेवाली वेदना क्या है? यह राम-नाम की रटन प्रकृत में क्या है जो इधर पैंतीस वर्षों से दिन-रात के किसी पल उनमें नहीं थम पायी? मेरा आग्रह है कि इसी अज्ञात और अजेय महारहस्य में गांधीजी के व्यक्तित्व की सचाई निहित है।

योग का लाभ होगा जो सब में व्याप्त है। इसी में से व्यक्ति, देश और जगत् की मुक्ति सिद्ध होगी। इसमें कर्म ह्रस्व नहीं होगा, उस पर से व्यक्ति की निजता की सीमा उठ जायगी। तब स्थूल-कर्म पूजा के समान पवित्र और व्यक्ति-रूप प्रकृत (परमात्म) रूप के समान मुक्त, गम्भीर और विराट् होता जायगा।



गांधी-नीति

कहा गया कि गांधीवाद पर कुछ लिखकर दूँ। मेरे लिए गांधीवाद शब्द मिथ्या है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद अवश्य है। वाद का स्वभाव है कि वह प्रतिवाद को विवाद द्वारा खण्डित करे और इस तरह अपने को प्रचलित करे। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नहीं होगा।

गांधी ने कोई सुस्पष्ट मन्तव्य प्रचारित नहीं किया है। ऐसा सैद्धान्तिक मन्तव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप में देखते हैं। सत्य के साक्षात्कार की उसमें चेष्टा है। सत्य पर ध्यान दिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन प्रयोग है। परीक्षा फल आँकने का काम इतिहास का होगा, जब कि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन फल को नापने के लिए बाट कहाँ है, नापने के लिए अन्तर (Perspective) कहाँ है?

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिस्फुट हो रहा है वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसलिए वह केवल बुद्धिग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, शब्दगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतरी एकता और विश्वास की निरन्तरता पर कायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता

है उसमें दाँव नहीं हैं, वह सहज और स्वभाव-रूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। उसे निगुण अद्वैत तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप जैसा धौला और साफ हो आयगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दो-पन नहीं है। वहाँ सब दो-एक हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी में न फँसकर, गांधी ने सत्य की शरण का गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविनाशी का एकदम अगम है। पर वह आस्था अमर, अजय और अचूक इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहाँ से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानो वह कर्म सहज उपलब्ध हो आयगा। गांधी की प्रेरणा शत प्रति शत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य पुरुष (Man of Destiny) हो गये हैं। जो वह चाहते हैं होता है—क्योंकि जो होनेवाला है उसके अतिरिक्त चाह उनमें नहीं है।

यान्त्रिक रूप से ग्रहण की जानेवाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति इस आस्तिकता के आधार को छोड़कर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भाँति वह एकदम विरोधाभास से भरी, चक्करों से वक्र और प्रपंचों से ग्रस्त मालूम होगी। जैसे मानो उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानो अवसरवादी (Opportunist) की नीति है। मानो वह मायपन है। पर मुझ तो

ऐसा मालूम होता है कि यह साधपन, यह कार्यकौशल, अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे जोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहजभाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रंथहीन हो गया है। उसमें द्विविधा हो नहीं है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्मकौशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध यहाँ तक कि टिक ही नहीं रह गया है। सृष्टि ब्रह्ममय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में स्रष्टा, नर में नारायण पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति ने वह रूप लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्यज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सत्य का परम रूप है। परन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें हों, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है, तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्म भी इसके भीतर आ जाता है। देश-सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज कायम करना और शासन विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना, बदलना भी आ जाता है।

पर वह कैसे?

सत्य की आस्था प्राप्तकर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व प्राप्त होता है—अहिंसा। उसे सत्य का ही साक्षात् पहलू कहिए। जैसे रात को चाँद का वस उजला भाग दीखता है, और पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। यह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशो द्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूप में सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब हैं एक। लेकिन यहाँ इस संसार में तो मुझ जैसे कोटि-कोटि आदमी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं अनेक वर्ग हैं। ईश्वर में आस्था रखूँ तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ? उन अनेकों में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए जहर है, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिरकर आस्तिकता को छोड़ नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसी का, नाश नहीं चाह सकता, किसी की बुराई नहीं चाह सकता, किसी का बुरा नहीं कह सकता, घमंड नहीं कर सकता, आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते हैं।

लेकिन कर्तव्य कुछ आ जाय—तर्क सुझायगा कि—सचाई भी तो हम देखें। आँख सब ओर से तो मूँदी नहीं जा सकती। यह आँख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुतों को असुविधा नहीं होती, बहुतों का नाश नहीं होता? आहार बिना क्या मैं जी सकता हूँ? लेकिन आहार क्या हिंसा नहीं है? जीवन

का एक भी व्यापार हिंसा के बिना सम्पन्न नहीं बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखाई देता है। वहाँ शान्ति नहीं है। पग पग पर दुविधा है और विग्रह है।

सब कहे, कौन क्या कहता है। एक दूसरे पर आक्रमण हुए बिना टूटकर ही रहेगा। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आँखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से और इतिहास द्वारा परोक्ष जीवन में से सार-सार तत्व को पहचान लेगा कि युद्ध ही मार्ग है। उसमें बल की ही विजय है और बल जिस पद्धति से विजयी होता है उसका नाम है हिंसा। जो मजबूत है वह निर्बल को दबाता आया है और इसी तरह विकास सम्भव होता आया है।

मेरे ख्याल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की ओर बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है। रोग भी यही है। आज जिस उलझन को सुलझाना है और जिस उलझन का सुलझान का सवाल हर देश में हर काल में कर्मक्षेत्र में प्रवेश करनेवाले योद्धा के सामने आयेगा, वह यही है कि इस कुरुक्षेत्र में मैं क्या करूँ? किसको छोड़ूँ, किसको लूँ? बुराई को कैसे पछाड़ूँ! बुराई क्या है? क्या बुराई अमुक अथवा अमुक नामधारी है? या बुराई वह है जो कि दुःख देती है!

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धतियाँ चलती चली आयी हैं। एक यह जो अपने में नहीं, बुराई को कहीं बाहर देखकर तलवार के साथ उसके नाश के लिए चल उठती है। दूसरी वह स्वयं अपने को भी देखती है और बुरे को नहीं, उसमें विकार के कारण आयी हुई बुराई को दूर करना चाहती और विकार का निदान अपने में वह पा जाती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। आस्तिकता के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गांधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रसंग है। वह

नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म युद्ध हो। जो धर्म भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बनाता है। धर्म भाव हो, फिर युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट भी जाये, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं। किन्तु पलभर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। यह जीवन और मौत का, प्रकाश अन्धकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खाँड़े की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधारशिला प्राप्त हुईं—

(१) ध्येय—सत्य।

क्योंकि ध्येय कुछ और नहीं हो सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है जिससे कोई अन्य भी है वह ध्येय कैसा? जो एक है, वह सम्पूर्ण भी है। वह स्वयंभू है, आदि-अन्त है, अनादि-अनन्त है। प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो यही ईश्वर।

(२) धर्म—अहिंसा।

क्योंकि उस ध्येय को मानने से जो व्यवहार धर्म प्राप्त हो जाता है उसी का अंगीकरण है अहिंसा।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रकृत (Positive) तत्त्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना नहीं हो पाता, नकार की ही परिभाषा शेष रह जाती है। उसको कोई निश्चित शब्द ठीक खोल नहीं पाता। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, वह तो उसका रूप भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पाजिटिव) शक्ति क्या है?

फिर भी आत्मगत और व्यक्तिगत प्रेम में अन्तर बाँधना कठिन हो जा
और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती इसी से प्रेम न क
कर कहा गया 'अहिंसा'। यह अहिंसा निष्क्रिय (Passive) पदार्थ न
है, वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा सत्य की जाननेवाली
शान्त हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा में भीग रहना चाहिए। और सत्य
है हा ध्येय। कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों—सत्य अहिंसा—के
हमारे साधारण भाषा में लोक-क्रम के सम्बन्ध में सीधा कुछ प्रकाश नहीं
प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया अहिंसा से भी चित्त को भिगा
लिया लेकिन अब करना क्या होगा? तो उसके लिए है

(३) कर्म—सत्याग्रह।

'सत्याग्रह' मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस
उपलब्धि की ओर बढ़ते रहना है। इसी में गति (उन्नति प्रगति, विकास
आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसी में कर्तव्य (Doing)
आ जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली व्याख्या में सत्य को अखंड
और अविभाज्य कहा गया तब यहाँ अवकाश कहाँ रहा कि आग्रह हो?
जहाँ आग्रह है, वहाँ इसलिए, असत्य है।

यह शंका अत्यन्त संगत है। और इसी का निराकरण करने के लिए
शर्त लगायी गयी—अविनय। जहाँ विनय भाव नहीं है, वहाँ सत्याग्रह हो
ही नहीं सकता। वहाँ उस 'धारा' का व्यवहार है वो ज्ञान अथवा अज्ञान
में छल है। क्योंकि सत्य ही अखण्ड है। जब तक वह है, तब तक व्यष्टि
के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झाँकी
व्यक्ति के अन्तःकरण में प्राप्त होकर जाग उठा है व्यक्ति की समूची
निष्ठा उसी के प्रति समर्पित हो जाना चाहिए। उस रहनेवाली निष्ठा
को कहा गया आग्रह, किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो
सकता और उस आग्रह का कष्ट और दण्ड अपने ऊपर ही लेता है।

उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुँचने देता। यानी सत्याग्रह है तो अविनय होगा। कहीं गहरे तल में भी वहाँ अविनय भाव नहीं हो सकता। कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जबकि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और मद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार से तीन मूल सिद्धान्त हुए। या तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे में कठिनाई नहीं होगी। व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों को लेकर पैदा होता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सीमित प्रतीत होता हो, लेकिन वही व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है। उसकी पूर्ति में से मानो वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। स्वधर्मो निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह।

इस भाँति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नहीं और तरह-तरह के स्वर्ग चित्र (Utopias) तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नहीं खींच ले जाते। क्षणोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मन्द होती है और परिणाम में स्वार्थ-जन्य स्पर्द्धा और आपाधापी भी कम होती है। सब को दरा दो और सब से आगे बढ़ हुए दीखने की ओर मन उतना नहीं लपकता और परिणामतः व्यक्ति विश्राम और विषमता पैदा करने में नहीं लग जाता। महत्त्वाकाँक्षा (Ambition) की मार तब सताती नहीं। व्यक्ति कर्मशाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानो अपना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पड़ता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति में भाग रहा हो।

मुझ तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उल

झगड़ों की जड़ में मुख्यता से यही आपा धापी और मन्ना-चढ़ी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गयी। यानी भावना-बुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective Conditions) के साथ गांधी-नीति क्या करना चाहती है? उसमें क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का संगठन क्या हो? आवश्यकता और आविष्कार का, उद्यम आराम का, विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर सम्पर्क और विभाजन क्या हो? श्रम और पूँजी कैसे निबटें? आदि आदि।

तो प्रश्नकर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों को लेकर एक घबराहट से अपने को घेर रहने और हलकान होने की आवश्यकता नहीं है। फिर उनका हल कागज पर और बुद्धि में ही हो जानेवाला नहीं है। सब सवालों का हल बतानेवाली भारी किताब मुझे उन सवालों से छुटकारा नहीं दे सकेगा। इसलिए विचार धाराओं (Ideologies) से काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न हैं उनमें तो अपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है। ऐसे ही वे धीरे-धीरे निबटते जायँगे। नहीं तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा छुट जायगी और अन्त में ज्ञात होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फरेब (Illusion) था, और रा पास पहुँचते ही वह तो उड़ गया और हमें सारा-का-सारा वहाँ-का-वहीं ाट गया। अर्थात् उन प्रश्नों पर सहसा-सहसी और लिखा-पढ़ी की अपने-आप में जरूरत नहीं है। उनमें जुट जाना पहली बात है।

गांधी-नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धिबीज से सुलझने की आशा न करो। ऐसे वह उलझती ही। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर यन्त्र ला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है, वह है स्वदेशी।

स्वदेशी द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली बात

के तौर पर माँगी जाती है। उस बात का अर्थ है कि हमारे काम से लोगों को लाभ पहुँचे। आदान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे और पड़ोसीपन पनपे। (Neighbourliness) पास पड़ोसपन स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहाँ मैं रहता हूँ। इस भाँति सबसे पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुँच सकता है। भूगोल के नक्शे का देश अन्तिम देश नहीं है। मेरे घर को इन्कार कर नगर कुछ नहीं रहता, उसी तरह नगर प्रान्त को इन्कार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ोसी से टूटूँ नहीं और अधिकाधिक हम में हितैक्य बढ़े। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाजनीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसी की इकाई को भूल जाती हैं। उनमें योजनाओं की विशदता रहती है, पर मूल में Neighbourliness के तत्त्व पर ज़ोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची है जो पड़ोसी प्रेम से आरम्भ होती है। इस तत्त्व को ध्यान में रक्खें तो बड़े पैमाने पर चलनेवाला यान्त्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल कारखाने हुए वहाँ जन-पथ दो मार्गों में बँटने लगता है। वे दोनों एक दूसरे को गरज की भावना से पकड़ते और अविश्वास से दरते हैं। वे परस्पर सट बने रहने के लिए एक-दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं। पूँजीपति मजूरों की झोंपड़ियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है कि दूर दुष्प्राप्य और सुरक्षित बना रहे। उधर मजदूरों की आँखों में मालिक और मालिक का बँगला काँटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सम्बन्ध तभी असम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनरचना पड़ोसपन (Neighbourliness)



गांधी-नीति का स्वदेशी सिद्धान्त अतः हिन्दुस्तानी मिलों का नहीं, घरेलू चरखों का चाहता है।

संक्षेप में गांधी-नीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्म सत्ता का ही खंड है। इससे व्यक्ति का ध्येय सत्य से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ सामंजस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जाये उतना अपनी और संसार की बंधन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-क्रम का राजनीति एक पहलू है। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति रूप में युद्धरूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्ममयी और शांतिरूपी होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का धीमा धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक कदम बस काफी है। वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है। मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक कदम ही एक साध्य है। यहाँ साधन स्वयं साध्य का अंग है। साधन साध्य से भिन्न कहाँ हो सकता है। इससे जिसे लम्बी चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, बस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सब में धर्म की श्वास चाहिए। इसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा, अन्यथा नहीं। सब के मन में एक ज्योति है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाये चले चलना है। चले चलना, चल चलना। जो होगा, ठीक होगा। राह का अन्त न नाप। राही! तुझे तो चलना है।



• ५ :

गांधी और विश्व-व्यवस्था

गांधी जेल में हैं, और एक वर्ष के ऊपर से उनकी कोई सीधी आ
हमें नहीं मिली। कल एक वर्तमान महापुरुषों को गिना रहे
गांधी को उनमें प्रथम रखने में उन्हें कठिनाई थी। जगद्-व्यवस्था
उनका कोई प्रकट दान नहीं दीखता। और नाम जो उनकी गणना
आये, आज के युद्ध से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषों के थे।

उन भाई की कठिनाई आज के आलोचक की कठिनाई है। शासन
के और युद्ध के मैदान से गांधी अलग हैं और बन्द हैं। विश्व का भाग्य
तय हो रहा है, देशों की सीमाएँ बन मिट रही हैं और भावी व्यवस्था
की नींव डाली जा रही है। यह सब गांधी का बिना लेखे में लिये हो
रहा है। इसमें क्या न कहा जाय कि कर्म के धरातल पर गांधी अनिवार्य
नहीं है!

प्रकट यह सच है। युद्ध में दो ही पक्ष हैं। तीसरा कोई पक्ष नहीं है
और यह युद्ध समूची मानवता का है। विश्व का भाग्य पलड़े में है और
सभ्यता के अगले कदम का निर्णय होना है। ऐसे समय जो किनारे पर है
और इतिहास के मध्य में नहीं है, उसे विश्व विचार की दृष्टि से शून्यवत्
ही समझना चाहिए। शत्रु भी विचारणीय है, मित्र भी विचारणीय है पर
जो यह है न वह, ऐसा व्यक्ति हिसाब में आने-योग्य नहीं ठहरता।

किन्तु युद्ध में असल में दो पक्ष नहीं हैं। युद्ध त्रिभुजात्मक है। तीसरी
भुजा मुखर नहीं है किन्तु वही और दो की आधारभूत है। शायद वह
भुजा नहीं है, भूमि है। उस भूमि पर रहकर ही दो लड़ते हैं।

कहा जाता है कि लड़ाई में जर्मनी, जापान और इटली एक ओर

हैं ब्रिटेन, अमरीका, रूस, चीन आदि दूसरी ओर। भाव होता है कि ये देश लड रहे हैं। पर युद्ध-घोषणा उन देशों की सरकारों ने की है। देश के नाम पर वहाँ की सरकार को ही बोलने का हक है, यह ठीक है। लेकिन यह भी विदित हो कि एक देश की सरकार और उस देश की जनता, यानी शासक और शासित, राजा और प्रजा, पूरी तरह एक नहीं होते हैं। अनुशासन और कानून में वे एक हों हृदय में और यथार्थ में दोनों अभिन्न नहीं होते। इसी से सरकार बदला करती है, विद्रोही शासक हो जाते हैं और शासक दण्डित हुआ करते हैं।

यह पक्ष अधिकांश अव्यक्त रहता है। यह असगठित और गर्भित रहता है। उसके ऊपर से दलगत ही मुखर हुआ करते हैं। जब यह मूल पक्ष किसी गहरी व्यथा से उभार पाता है तब विस्फोट फूटता है और साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं।

ऊपर शासकों की लड़ाई है। उनको बल निस्सन्देह नीचे जन-सामान्य में से पहुँचता है। प्रजा ही लड़ती और लहू बहाती है। परिणाम में एक शासक गिरता, दूसरा उठता है। रक्त बहाकर शासकों में परिवर्तन लाया जाता है। परिवर्तन से शान्ति आती है फिर उस शान्ति के ऊपर होकर शासन चलता है, शासकों में फिर स्पर्धा होती और फिर युद्ध होता है। और फिर प्रजा कष्ट सहने को आगे आती है!!

सरकारें सब जनता के बल से पुष्ट हैं। क्या आज का लोकतन्त्र या अधिनायकतन्त्र, या क्या फिर पुराना छत्रतन्त्र—सबका अधिष्ठान जनता है। जन वहाँ से आते हैं, धन वहाँ से आता है और अन्न वहाँ से आता है। वह युद्ध उन्हीं के बल पर और उन्हीं की छाती पर लड़े जाते हैं।

इस भाँति प्रत्यक्ष युद्ध में दीखने में दो भुजाएँ आती हैं। पर उन दोनों को तीसरी का सहारा है। यह तीसरी भुजा ना स्थायी है धरती में चिपककर रहती है। श्रम उसका धन है, पर वह मूक है और सहना उसका काम है।

गांधी ! इस युद्ध में वह तीसरी भुजा है। उसका जेल में होना प्रमाण है कि यह भुजा सजग है।

इस समय विश्व की राजनीति राष्ट्रीय नहीं रह गयी है। गांधी को भी राष्ट्रीय समझना भूल होगी। कांग्रेस राष्ट्रीय हो, गांधी मानवीय है। अन्तराष्ट्रीय ... फिर ... राष्ट्रवादी नीतियों के चक्र का द्योतक है। गांधी के साथ वह भी नहीं है। अन्तराष्ट्रीय चालों के पार उसका युद्ध मानना पड़ा है।

देशों के लोग वह मानते हैं जो उन देशों की सरकारों ने उन्हें मानना बताया है। वे अपने हित को दूसरे के विरोध में देखते हैं क्योंकि उन्हें ऐसा देखने की शिक्षा दी गयी है। उन्हें अपनी रक्षा की चिन्ता है, दूसरे के आक्रमण का भय है, अपने स्वत्वों का लोभ है, विस्तार की आकांक्षा है—क्योंकि यह सब उनमें भरा गया है।

पर क्या उन्हीं देशों में लोग नहीं हैं जो जानते हैं कि श्रम से धन उत्पन्न होता है और लड़ाई में समय और सब कुछ बरबाद होता है। क्या अन्दर ही अन्दर लड़नेवाले तक नहीं जानते कि दुनिया हम सब की है और परमात्मा एक है और मिल-जुलकर हम रहना चाहिए।

लेकिन वैर जगा लिया गया है और लोगों को अपनी ही भीतर की बात सुनने का अवसर नहीं है। प्रकृत मानव के प्रतिनिधि होकर उसकी अन्तस्थ आशा आकांक्षाओं को वाणी देनेवाले लोग हैं भी तो प्रचार के कोलाहल में वे अनसुने रहते हैं या फिर उन्हें बलात् चुपकर दिया जाता है।

गांधी मानवता की वही अन्तस्थ ध्वनि है। उसे पहचान लिया गया है। वह जागरूक है और मन्द नहीं होगा। बीच के राजकरण के चक्रों में भी वह नहीं गिरेगा। यह सब ... और ऊर्ध्व, जगा ही रहेगा। और उसे जेल में रोका जायगा तो यह ... ही स्वर उसकी जगह बोलेगा।

आगामी विश्वव्यवस्था की इस समय चर्चा है। लेकिन ब्रिटेन अमरीका या किसी और देश का शासक, जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचता और चलता रहा है, क्या विश्व शांति और विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में किसी दूसरी बुद्धि या वृत्ति से निर्णय ले सकेगा? आज

अंग्रेज है, अमरीकन है, जर्मन है, जापानी है—वह कहाँ है जो आदमी है? सब अभ्यासी हैं कि अपने को इस-उस देश का मानें और बाद कहीं अपने को आदमी मानें। यह व्यवस्था क्या विश्व-कुशल लानेवाली होगी, जहाँ हर व्यवस्थापक अपने देश के स्वार्थ का प्रतिनिधि होगा? क्या इस प्रकार की मन्त्रणा बड़ी शक्तियों को और मजबूत तथा छोटी शक्तियों को पराधीन रखने का ही साधन न हो जायगी? क्या ऐसी परिषद् में से शान्ति या व्यवस्था आ सकेगी?

ऐसे समय गांधी ही है जो प्रकृत मानव का पक्ष लेकर खड़ा है। क्या गांधी ने नहीं कह दिया कि हिंसा से मिलनेवाला स्वराज्य उसे नहीं चाहिए? ऐसा राज्य सबका स्व-राज नहीं होगा। आत्म शासन नहीं, किसी-न किसी रूप में वह पर शासन ही होगा। क्या गांधी ने हमेशा स्पष्ट नहीं किया कि उसका कर्म देश के लिए नहीं, मनुष्य के लिए है और वह राजनैतिक नहीं, धार्मिक है?

युद्ध जब यह शान्त होगा, देश आपस में निबट चुके होंगे, तब विजयी पक्ष को अपना हिसाब जनता के हाथों सौंपना होगा। या तो युद्ध के परिणामस्वरूप साम्राज्य महा-साम्राज्य होंगे और औसत मनुष्य दुगुना जकड़बन्द होगा या फिर राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचनेवाले को विश्व परिभाषा में रहनेवाले के लिए जगह खाली कर देनी होगी। हर हालत में, इस त्रिभुजात्मक युद्ध की विजयी भुजा को, अब नहीं तो फिर, शेष तीसरी भुजा से निबटना होगा।

यही तीसरी भुजा निहत्थी है, क्योंकि उसके पास काम करनेवाले दो हाथ हैं। दुःख उसका बल है। वह धरती से लगी है, क्योंकि इसी में से सब उठते और अन्त में इसी में आ मिलते हैं। सिर ऊँचा करके जो आज शासक बना है और धमक के साथ धरती पर पैर रखता है, आखिर वह भी धरती का है और उसी में आ मिलेगा। इसलिए इन धरतीवालों का बल अहिंसा है। क्योंकि कोई उनसे परे नहीं, सब अपने हैं। इसलिए उनमें वैर नहीं है, पक्ष नहीं है। क्या इंग्लैंड और क्या जर्मनी—ये अलग

अलग नाम तो काम चलाने भर के लिए हैं। धरती माँ के लिए सब एक हैं। उस इङ्गलैंड-जर्मनी में अन्तर नहीं। दोनों लड़ते हैं, इसलिए दोनों भूल में हैं, क्योंकि दोनों धरती को उजाड़ते हैं। इस तीसरी भुजा का एक ही धन, एक ही बल और एक ही नियम है—वह है श्रम। ऊपरवालों के विलास के और वैर के सब खेल धरती से लगे लोगों के सतत श्रम पर चलते हैं। इस भुजा का धर्म सहते रहना और मेहनत करते जाना है।

गांधी और कुछ नहीं है, मानवता के इसी अन्त स्वरूप का प्रतिनिधि है। वह मनुष्य-जाति का अन्तर्मन है। उसे कुचलकर दबाया ना सकता है, उसको टाला जा सकता है, अनसुना किया जा सकता है। पर अन्त में उससे सुलझना ही होगा। उससे अपना हिसाब साफ किये बिना गति नहीं। इसमें कितने भी दिन लगें पर होनहार यही है।

बात कुछ यही मालूम होती है। पर यह भूल है कि गांधी मरकर मर जायेगा। शायद अशरीरी होकर वह और प्रबलता से जीयेगा। स्वयं लुप्त होकर जनता के अन्तर्भावों में व्याप्त होकर वह एक ऐसी शक्ति बन उठेगा कि यदि उससे पहले शासकों ने उससे निबटारा न कर लिया होगा तो फिर वह शक्ति, अप्रतिरोध्य और दुर्निवार, अटक न सकेगी और किसी की सुनेगी भी नहीं। गांधी पुरुष के हाथों जो संयत है, जनता की प्रकृति से मिलकर वह उद्धत और दुर्दम हो उठेगा। तब जो न हो जाय थोड़ा है। जन-मन तब एक अंधे वेग से उभरेगा। उस बाढ़ में क्या-क्या तहस-नहस हो जायगा, कहा नहीं जा सकता।

पर वह सम्भावना शुभ नहीं है। विवेक में से ही मुक्ति आयेगी। वेग तो नवीन बन्धन की सृष्टि कर उठेगा। इसी से गांधी के जीवन के दो पक्ष हैं। एक ओर उन्होंने लोक-चैतन्य को जगाया है, तो और उसी के उफान पर छींटे भी डाले हैं। कहीं भी गर्मी को भड़कने नहीं दिया है। जब तक ताप की अग्नि विवेक की शक्ति नहीं बन गांधी ने उसे दबाया ही है।

राजनीतिक धर्म के लिए यह अनहोनी बात है। जिस शक्ति का

चेताकर राजनीति अपना काम चलाती है, उसी को अस्वीकार करके गांधी ने अपने नेतृत्व का निर्माण किया है। क्रोध, स्पर्द्धा, द्वेष आदि मसाला पाकर सब कहीं राजनीतिक दल अपने को संगठित और सशक्त बनाते हैं। यहाँ अकेले गांधी ने ऐसे सब दलों को निर्जित करके भी जीवित किया है। शासकों के लिए गांधी के प्रभाव का यह पहलू बहुत कीमती है, यद्यपि राजनैतिक उस पर दंग हैं।

इस प्रकार जनता के साथ अभिन्न और उसका परम प्रिय होकर भी गांधी उसका शास्ता है। वह शासकों की भाषा में दूसरे शासकों के साथ निबट सकता है। यह सुविधा गांधी के साथ ही सम्भव है। अन्यथा लोकनेता (Democratic Leaders) लोक-शासित भी होते हैं, और शासन-चर्चा में वे निज सहायक नहीं हो सकते। गांधी पूर्णतया आत्म-शासित है, इसलिए वह सर्वोच्च शासक-कोटि का व्यक्ति है। शासकों और नायकों की मंत्रणा में गांधी सिद्धान्तवादी नहीं जँचेगा। आधुनिक राजनेताओं (Diplomats) से गांधी इसी जगह अलग है। वह अत्यन्त व्यावहारिक है और उँगलियों से काम करना जानता है। वह श्रमिक है और काम-काजी है। वह मुद्दे की बात पकड़ता है और बौद्धिक घुमावों में नहीं पड़ता। वह आदर्श को चर्चा में काम की बात को अलग कर सकता है। अमरीकी विल्सन की तरह आदर्शवादी योजना में उसका बहकना या उसको बहकाना सम्भव नहीं है। वह स्वप्नदर्शी होकर भविष्य के लिए वर्तमान को नहीं टाल सकता, न अल्पदर्शी राजनीतिज्ञ की तरह वर्तमान के लिए भविष्य को कीमत में दे सकता है।

उसकी नीति सीधी है। अहिंसा के लिए उसे चर्चा नहीं, चर्या चाहिए। मानव के विषम सम्बन्ध भावना मात्र से सम और शुद्ध न होंगे, उसके लिए कर्म चाहिए। कर्म यानी श्रम। उत्पादक श्रम को केन्द्र मान कर हमें अपने लिए नवीन अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना होगा। इससे धन केन्द्रित न होगा। एक ओर दरिद्रता का प्रमाद और दूसरी ओर विलास का आलस्य उससे समाप्त होगा। श्रमहीन धन से औरों में द्वेष और

संप्रभाधिपति में दम चन्ता है। इस तरह लाभ आर न्य भ्य चक्र चा पड़ता है। तब अस्त्र शस्त्र तैयार होते ए, जिससे सम्पत्ति का रन आर बंटवारा का ना सके। इस सम्पत्ति का मद्र म तर शासन-तन्त्र का लग्न होता है। अपने अर प्रजा के बीच उठ-भार सर्वाधिकारिया आर अधिकारिया की श्रेणी पेश करके शासन अपन को आनाय जाता है। विमानन हुकूमत का मन्त्र है। ऐसी अवस्था आने पर श्रम का कामत लगभग समाप्त हो जाती है आर चालाकियो और चतुराई का कामत न जाती है। श्रमिक गलित होता है और हुक्काम के स्वार्थ म साधन-रत होकर श्रमहीन अपने लिए प्रभुता प्राप्त करता है। ऊपर के लोग तब समर काटने और खाना पचाने के लिए तरह-तरह के उपाय रचते हैं और श्रमिक का पसीना बहाकर भी समय और खाना नष्ट हुआ। यह वैषम्य जीवन के महत्व मूल्यों का भुलाने से पैदा होता है और गाधा का प्रबल उन्हीं मूल्यों की पुन प्रतिष्ठा है।

गाधी के जीवन म कोई जटिलता नहीं है। वह सरल आर स्वच्छ है। दूसरे की बुद्धि उस पर अपने लिए गोरखधधा रच सकती है, लेकिन उसमें उलझन नहीं है। उसका मूलधार है श्रम आर प्रेम। श्रम के बिना प्रेम विलास हो जाता है, यज्ञ नहीं रहता। वह एसे अहंताप भी होता है। जो प्रेम माग है वह श्रमहीन है आर व्यायमय है। वहां याग होकर श्रमरूप और पारमार्थिक होता है। श्रम से चेतना स्वाधीन होती है और व्यक्ति निर्भीक बनता है। तब वह अपने का इन्कार करने की लाचारी में हो पड़ता और अपने भीतर के सत्य के स्वीकार म बाहरी किसी बल के भी प्रतिकार का उद्यत रहता है। एसा प्रेमी, यानी अहिंसक सत्याग्रही होकर आदी होता है।

यह महत्व मानव-मात्र का पर शासकों के विचार में कदाचित् ही उपस्थित होता हो। ये दफ्तरी द्वारा नक्शों और अंक-गणनाओं से मानव-जाति की अवस्था का अनुमान कर अपनी व्यवस्था किया करते हैं। उनकी फाइलों में रहती है। उसके सुख-दुःख के साथ उनके मन

के आन्तरिक सूत्रों का विशेष सम्बन्ध नहीं होता। प्रकृत नहीं बल्कि मुखर पक्ष की ओर ही उनका ध्यान जाता है और तब या तो लोभ देकर या दमन द्वारा उसे चुप किया जाता है। इन शासकों की व्यवस्था में, अथवा युद्ध में, व्यक्ति एक अंक होता है और गणित के सूत्र से उन्नति नापी जाती है।

दूसरी ओर भावुक लोग हैं जो समष्टि के व्यक्ति में बिम्ब देखते हैं और वहां अपने राग का केन्द्र बना लेते हैं। ऐसा राग द्वेष पर पलता है। अधिकांश जन इसी गणना में आते हैं। ये ही फिर शासित होते हैं।

इन दोनों वर्गों में ऐश्वर्य, शासकों में शासक और साधारणों में साधारण है, गांधी। उनकी जनमन के साथ एकता स्थापित हुई है। फिर भी उनकी दृष्टि जनता की अनेकता के पार वहीं एकी आतरिकता पर है कि दाय-दाय असत्य मरते हुओं, बिलखते हुओं के बीच भी उनकी गति, या उनकी मुस्कराहट, मन्द नहीं होती। वह निर्ममों में निमम है। शासक के समान बुद्धि की तत्परता और भक्त के समान हृदय की आत्मीयता—गांधी एक साथ स्वयं में दोनों का समन्वय हैं।

गांधी अपने अकेले व्यक्तित्व में दोनों तत्त्व के संयोजक हैं। आदर्श और यथार्थ, स्वप्न और श्रम, धर्म और राजकरण, समन्वय और विश्लेषण। इससे इस युद्ध के अनन्तर, जब कि विश्वशांति परिषद् हो, या जगत्-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार हो, गांधी की उपस्थिति वहाँ अनिवार्य है। गांधी न हुए तो उनकी नीति तो होगी ही। उस दृष्टि और उस नीति से अन्यथा किसी दूसरी तरह मानव हित-साधन और स्थिर शांति का विधान हो सकेगा, यह सम्भव नहीं लगता।



हर कुछ गांधीजी के उदाहरण में खुलता हुआ देखा जा सकता है। समस्या—व्यक्ति की, समाज की या राज की—कौन ऐसी बचती है जिसके हल की तरफ सकेत वहाँ न हो। या समस्याएँ स्वयं में समाप्त कभी होने वाली नहीं हैं। ऐसा हो तब तो जीवन का अन्त भी हुआ मानिये। इसीसे देखते हैं कि गांधीजी के उनके बाद और आसपास समस्याएँ जैसे विकट से और विकटतर ही हुई हैं। यानी समस्याओं का निपटाना उनका काम न था। अपनी समस्याएँ हम स्वयं झेलनी और चुकानी होंगी। यह आशा व्यर्थ है कि हमारा उलझना कोई लोकोत्तर कोई अवतार आकर सुलझायगा। नहीं, उनके लिए स्वयं हमको जूझना होगा। अवतार वह नहीं है जो डूबते को तारता है। वह तो वह है जो स्वयं तिरकर डूबते को तिरने की राह सुझा जाता है।

इस तरह गांधीजी के जाते ही लगता है जैसे अंधी और अँधेरी ताकता ने हमें घेर लिया है। अभाव तो कहा रहता नहीं, चारों दिशाएँ उसे भरने को टूट पड़ता है। गांधीजी के तिरोभाव पर भी सहसा लगता है जैसे प्रकाश गया तो जाने कहाँ-कहाँ से अंधकार जगह भरने को आ गया है।

यह स्वाभाविक ही है। गांधीजी का युग यदि पाँव उखाड़कर हमें अपने साथ बहा ले चला था तो अनिवार्य है कि गांधीजी के जाने पर हम अपने पैर अपने नीचे पायें और देखें कि गांधीजी के बहाव अब ना हम अपने ही अनुसार चलना चाहते हैं। इसमें असंगत कुछ नहीं है। गांधीजी के रहते जो उनके त्याग पर चले, वे गांधीजी के बाद अपने भोग पर क्यों न आ जाते? इस तरह, जान पड़ता है, गांधीजी अपने साथ अपनी राह भी लेते गये हैं। अब हिन्दुस्तान की कांग्रेस और उसकी सराजी सरकार उस तरफ से आजाद और बेलाग है। और यह अच्छा ही है।

लेकिन गांधीजी युग के ही न थे। येन-केन युग के लोग तो आते हैं और चले जाते हैं। मानो वे किसी अंधी वासना के प्रतीक होते हैं। इससे उनका मूल्य सामयिक रहता है। इतिहास उनके ऊपर से निकल जाता है। जैसे उनमें एक ही सतह होती है, विस्तार, गहराई या ऊँचाई नहीं,

विभेद और सम्प्रदाय-आम्नाय बन चलेंगे। यानी वह होगा जो धर्मों के इतिहास में होता आया है।

गांधीवाद के भविष्य को लेकर जो चित्र मेरी कल्पना में उठे हैं, मैंने ऊपर दे दिये हैं। मुझे उनमें असंगति तनिक भी नहीं दीखती, बल्कि एक प्रकार की अवश्यम्भाविता ही दीखती है।



८

नीति या राजनीति ?

गांधीजी रहे तब तक राष्ट्र की राजनीति उन्हीं के चलाये चली। लेकिन जब भी सम्भव हुआ, उन्होंने साफ कर दिया कि मैं राजनीतिज्ञ नहीं धार्मिक व्यक्ति हूँ।' अगस्त को जब भारत को स्वराज्य मिला और खुशियाँ मनायी गयीं, गांधीजी दूर नोआखाली में पैदल घूम रहे थे। बरसों से वह कांग्रेस के सदस्य भी न थे। और जीवनभर कभी किसी राजकीय परिषद् वगैरह के सदस्य भी नहीं हुए।

इस चीज का क्या मतलब है? क्या राजनीति आवश्यक चीज नहीं है? क्या किसी तरह भी उसे गौण माना जा सकता है? क्या वह जीवन का मौलिक पहलू नहीं है? गांधीजी का जीवन सचमुच कहा जा सकता है कि बात ऐसी ही है। राजनीति का अपना अस्तित्व नहीं? नहीं है या आशय कि नहीं होना चाहिए।

तब ध्यान उन लोगों की ओर जाता है जिन्होंने राजनीति को इतना माया का प्रपंच माना कि उनकी ओर से कोई राजा हो ऐसा भी विधान था, इससे उनका कोई सरोकार नहीं रह गया। कोई नृप होउ हमें का हानी! ऐसे उपासक और भक्त लोग अध्यात्म साधना करने और राजाओं को उन्होंने राज करने भोग करने और लड़ने झगड़ने दिया। कानून ने जुल्म किया तो उनका भगवान् ने कानून पर छोड़ दिया गया क्योंकि जो होनहार है, उसके सिवा तो कुछ हो नहीं सकता। इस तरह सच थे, धर्म और अध्यात्म के कुछ लोग संसार के सोच विचार को और काम धाम को माया का प्रपंच मानकर शुद्ध आत्म-साधना में लग गये कि उन्हें लंगोटी तक छोड़नी पड़ी और मानव सम्पर्क उनके लिए अगम हो गया।

गांधीजी यदि धार्मिक थे, तो ऐसे धार्मिक तो न थे। उनको हरदम हँसते रहना पड़ा। यों तो जेल उन्हें जेल न थी। पर सच तो यह है कि जेल में भी वह वैसी ही रमकर रहे। यानी खाया, पिया, पहना, ओढ़ा तो उसी भाँति कि जैसे वह किसी कड़े सख्त अनुशासन के नीचे रहना पड़ रहा हो। अनुशासन वह आत्मानुशासन ही था। इसलिए कम नहीं, अधिक कठोर था। घोर घमासान में उनकी जिन्दगी बीती। ऐश्वर्य और वैभव, भीड़ और कोलाहल सदा उन्हें घेरे रहे। महा-रहस्य ही उसे कहना चाहिए क्योंकि कुछ के नहीं, सबके, समूचे राष्ट्र के वह पिता बने और अपने पितृत्व की छाँह में अधिकाधिक को लेते चले गये। यानी उनका धर्म राजनीति से अलग हुआ, उससे विरुद्ध और तटस्थ न था। बल्कि कुछ इतना समग्रशील था कि राजनीति उसमें आकर धृति पाती थी। मानो बेचैन राजकरण उस धर्मनिष्ठ में पहुँचकर अपने लिए चैन पा रहा था। उसकी धार वहाँ कट जाती थी और उसकी कटुता मिट जाती थी। मानो प्रश्न वहाँ समाधान पाता और संघर्ष समन्वय की राह पर आ जाता था।

आज सन् '६० अगस्त के भारत की आत्मा के सामने, उसकी जनता के सामने और नागरिकों के सामने, सोचता हुआ एक ही सवाल है, क्या राजनीति को अनैतिक होने का अधिकार है?

राजनीति क्या सौ फी सदी राज चलाने, करने, या रखने की नीति होकर रह सकती है? इस तरह क्या उसका समर्थन राज में देखा जा सकता है? क्या वह आत्म तुष्ट होकर रह सकती है? या कि उस राजनीति को राज-सत्ता के अलावा किसी और के प्रति भी दायित्व है? क्या उस किसी अपने से ऊँची और स्थायी वस्तु में आदर्श देखते रहना नहीं है?

आज कुछ ऐसी हालत बन गयी है कि नव राज्य ही सब औचित्य का स्रोत हो। बाद इसके न हो, राज्य ही इष्ट हो।

कुछ सदियों से ऐसा एक भाव जम पाया है और यह जम हो गया है कि जैसे मनुष्य के व्यापार का आदि और अन्त उस समाज में ही होगा

होगा जिसका कि मूर्तरूप स्टेट या सरकार है। यह ज्ञान पश्चिम में आया
गिक युग, वैज्ञानिक युग के साथ उन्नत में आना और क्रमशः पनप
गया। उस ज्ञान के द्वारा उत्पादन के कारखाने अब भी वहां चल रहे हैं।

भारत आयात प्रधान देश है। निर्यात के लिए इसके पास कच्चा माल
रहा है। जिस माल का सबसे ज्यादा कीमत देकर अन्यभाव से यह
बाहर से गृह मँगाकर, अपनी आत्मा को भी देकर अपने को सजाना
रहा है, वह यही ज्ञान है। यह आर्थिक है सामाजिक है राजनीतिक
है। यूँ कहिए कि यह यूरोप में वह सब हुए हैं जो हम समझते हैं कि
होना चाहिए। और उस ज्ञान ने हिन्दुस्तान के आदमी को ज्ञानवान
इस शहरी आदमी को, जिसके पास उस ज्ञान की कीमत देने के लिए
थोड़ा बहुत पैसा और लालच रहा है, अगर रंग में नहीं तो वाकी सब
लिहाज में इंगलिस्तानी बना लिया है। वह मानता है कि हम वह सब
बना है और बर्बरता को छोड़कर उन्नत नागरिक बन रहा है।

लोग आर्थिक समस्याओं का शोर मचाते हैं। कहते हैं महगाई
और देश दिवालिया होता जा रहा है। आयात इतना अधिक है कि
निर्यात के लिए अपना पेट काट करके कच्चा माल जुटाना मुमकिन नहीं
होता। उधार की जरूरत है कि बड़ी-बड़ी मशीन विदेश से लाकर
मँगें और उत्पादन बढ़ा सकें।

बात ठीक है, लेकिन इस देश में रहने वाले जो आदमी हैं उस
महाशक्ति और महापूँजी को भी हम कुछ लेना-देना उन को तैयार है,
या उनमें हरएक व्यक्ति में दुनिया में दुनिया मशीन नहीं है। इस महा
शक्ति का हिसाब गलत है तब दूसरा हिसाब किसी तरह ठीक नहीं हो
गा।

जो मनुष्य को समालता है उस विद्या के बिना बाकी सारा विद्या
र है। मनुष्य को समालनेवाली विद्या है, धर्मनीति।
ज्ञान जो पश्चिम से आ रहा है, जो हमको और हमारे कामकाज को
चला रहा है अर्थनीतिक है। दूसरे शब्दों में उसे ही कहें राजनीतिक।

यह आदमी और आदमी के बीच में समता और संघर्ष उपजाने और जगाने के सिवा कर भी क्या सकता है? अर्थनीति अधिक से अधिक दो व्यक्तियों के बीच अधिकारों का संतुलन और आपसी समता चाह सकती है। यह समता और संतुलन स्वयं ही दो को मिला नहीं सकते, उन्हें अलग अलग ही रख सकते हैं। इस तरह जितना भी उस ज्ञान के आधार पर उद्धार-सुधार का प्रयत्न किया जाता है, बेकार जाता है। उलझन बढ़ती जाती है और उसी अनुपात में असंतोष बढ़ता जाता है। यह वह विषमचक्र है जो कभी रुक नहीं सकता। अहंकार और तृष्णा कभी अपना अंत नहीं पाये। इससे उनके आधार पर चलनेवाले यत्न समस्या को जटिल से और जटिल ही बना सकते हैं। सच पूछिए तो आज की आवश्यकता गहरे और मौलिक इलाज चाहती है। दुनिया को भारत से आशा है। आशा का कारण शायद नहीं है, फिर भी आशा है। कारण कि भारत इन दिनों अपने में से गांधी जैसे महात्मा को प्रकट कर चुका है। यह आशा कट गयी, तो उसके लिए फिर कहीं ठौर नहीं रह जायेगी। दुनिया को फिर भारी अँधेरे और युद्ध में गिरना होगा।

आशा अगर थोड़ी भी भारत से पूरी होनी है, तो वह तभी हो सकती है कि जब वह अपने भगवान को न भूले और पश्चिम की नकल में राज्य को अपना देवता न बनाये। अब भी सब खोया नहीं है। असल भारत अब भी देहात में बसा है और वहाँ स्वास्थ्य है। वहाँ राजधर्म का पता नहीं है और राजवादी विधान भी कम ही पहुँचा है। इसलिए ग्रामीण जनता में पसीना अपना है और अन्न निवाला है। और हिन्दू राम-कृष्ण को और मुसलमान हजरत मुहम्मद को याद करते हैं कि जो अवश्य राजा थे, पर छोटे-से-छोटे के बराबर बन कर रहे थे। राज उनके लिए आपस का और सेवा तथा प्रेम उनका स्वभाव था।

यह दृष्टि जो पदार्थ को और उसके हिसाब को पीठ रखती है, आदमी को और उसके हित को सामने रखती है, इसलिए जो नैतिक दृष्टि है—वही हमको और हमारे कामकाज को चलायगी, तब संकट के रहते

९

गांधी-धर्म और कर्मवाद

गांधीजी के जन्म दिन पर हम विस्मय कर सकते हैं कि इन चार साल में, कि जब गांधीजी शरीरतः हमारे बीच नहीं रहे, हम कहाँ से कहाँ आ गये हैं। ऐसा तो हमको नहीं मालूम होता होगा कि हमने गांधीजी को छोड़ दिया है। उनको हम मानते हैं, उनकी नीति को मानते हैं। भरसक उस पर चलने की कोशिश भी करते हैं। लेकिन देखते हैं कि नतीजा पहले जैसा नहीं आता है। तब उत्साह था, अब निराशा है। तब जो अपने को होमकर चलते थे, वे ही अब भागते चले गये हैं। वे ऐसा जान कर कर रहे हैं, सो नहीं; शायद अनजाने बरबस कर रहे हैं। पर है यथार्थ कि ऐसा हो रहा है। जिन्दगी जो ज्वार पर थी अब उतार पर दीखती है, और आदमी बुलन्दी की तरफ उठने के बजाय नीचे पाताल में गिरने को अपने को मजबूर पा रहा है।

गांधीजी का अक्षर शरीर तो हमारे पास है। उनका लिखा हुआ सब-कुछ मौजूद है। उनकी याद भी ताजा है। उनकी सिखावन से लाभ लेने की तबीयत भी कम नहीं है। फिर भी कहीं कुछ कमी है कि सब उल्टा हो रहा है। आशा थी कि भारत उठेगा और राह दिखायेगा। उसमें से दुनिया को एक नयी किरण फूटती दीखेगी। समाधान प्राप्त होगा और एक नया पूर्णतर दर्शन। पर मालूम होता है कि भारत निरा कंगाल हुआ पड़ा है। उसे बाहर से धन की और अन्न की माँग है और देने के लिए उसके पास कोई बल नहीं है। देश आपसी द्वेष और छीन-झपट में है, समस्याएँ उलझती जा रही हैं और अव्यवस्था फैल रही है। समस्याएँ या मुसीबतें गांधीजी के रहते न थीं सो बात नहीं। पर हम

अपने को निछावर कर देने का यत्न भी नहीं छोड़ा। परिणाम यह हुआ कि जो उनके अपने बने थे वो देहात के रचनात्मक कार्य में पैठ दिये गये और जो अलग रहे थे खुशी से, बल्कि सहायतापूर्वक नेता बनने दिये गये। अपनों को गाँधीजी ने ऊँची कुर्सी के बजाय सेवा की धरती दी। जिनका मन राजनीति में था उनको राजनीति से खेलने दिया, पर वहाँ से भी उनसे जो बन सका लिया का काम निकाल लेने का ध्यान रखा। शासन व्यर्थ हो जाय और हर आदमी अपनी-अपनी जगह सेवा-सिद्ध उत्पादन के काम में लग जाय—यह उड़ान दृष्टि रखी। कांग्रेस से चाहा कि वह पद की तरफ न देखे, जनता की तरफ देखे। कुर्सी जनता के कंधा पर बैठती है, सेवक की जगह जनता के चरणों में है। इससे कुर्सी की तरफ उसे नहीं देखना है। कुर्सी यों है तो किसी-न-किसी को उस पर रखना ही है—केवल इसीलिए वहाँ जाकर बैठने की अपने लिए जरूरत पैदा करना कोई बात नहीं है। दिन असली वह होगा जब कुर्सी कोई होगी ही नहीं और पद जिस दायित्व होगा जिसके साथ वेतन-भत्ते का कोई प्रलोभन न लगा होगा। तब समझा जायगा कि जनता समर्थ बनी है और उस समय पद का दायित्व सिर खतरा और बोझ ही रहेगा, किसी तरह भी वह प्रलोभन या पुरस्कार न होगा। तब कुर्बानी का हौसला रखनेवाला आदमी ही उसके लिए तैयार होगा।

गांधीजी स्वयं ही अपने बारे में कहते थे कि वह राजनीतिक नहीं, धार्मिक हैं। राजनीतिक न होना गांधीजी का असली होना था। बस यहीं जगह्यित उनकी हमसे छूट गयी है। हम राजनीतिक होकर जो गांधीजी न होना चाहते हैं या मानो भीतर में उनका निषेध करके ऊपर उनकी महिमा उठाना चाहते हैं। यह भला कैसे चल सकता है? इसी से देखने में आता है कि गांधीजी की नीति के नीचे राजनीति और उनकी अहिंसा के नीचे कायरता पल रही है। गांधीजी की नीति राजनीति के लिए सदा चुनौती थी और उनकी अहिंसा हिंसा के लिए भय का कारण थी। पर गांधीजी की मूल धार्मिकता के अभाव में यह बात आ नहीं सकती। तब

उदारता की नीति निकम्मी और अहिंसा नितान्त आलस्य की चीज समझी जा सकती है।

गांधीजी की शर्तों पर हम आराम से शासन नहीं चला सकते। शासन और शासक को समाप्त करने की इच्छा करनेवाले गांधीजी थे, उनको सहनेवाले न थे। शासक का उनमें कोपन रहना पड़ा। शासक में से वह सेवक गढ़ निकालना चाहते थे। लेकिन सेवक अपने प्रेम धर्म को छोड़कर शासन धर्म ओढ़ने को क्या लगा। इसलिए वह ऐसा जनतंत्र देखना चाहते थे कि जिसकी इकाई स्वाधीन, स्वायत्त, फिर भी राष्ट्र (अथवा समष्टि) के साथ सहानुभूति में बंधा एक जनपद हो। प्रत्येक जनपद में सत्ता का अपना स्वत्व मानकर बैठा हुआ एक समग्र सेवक हो। जनतंत्र के सूत्र का सिरा इस तरह में आरम्भ हो। जनतंत्र को इस तरह सिंचन देश की सारी भूमि में मिले। वह किसी भी राज्य में अर्थतंत्र न बन पाये, बल्कि जनतंत्र ही रहे। सत्ता केन्द्र में जब चढ़ती है तब जनतंत्र जन का तंत्र न रहकर अर्थ का तंत्र बन जाता है। तब अर्थ ही प्रधान और जन गौण हो जाता है। ऐसी अर्थतन्त्रता की नीति पर जमनेवाला जनतंत्र जन-जन में पराधीनता का बोध जगानेवाला होगा। जाने अनजाने उस तंत्र का एक ओर केन्द्रिकता और दूसरी ओर सर्वव्यापकता (तानाशाही) की तरफ बढ़ना जाना होगा। इससे तनाव पैदा होगा और फटने की हालत बन ही जायगी।

गांधीजी ने नहीं चाहा कि कोई उन पर आसरा डालकर उठे। उन्होंने सबको आत्म निर्भर देखना चाहा। उसी प्रकार की स्वावलम्बी अर्थरचना का सूत्रपात किया। स्वावलम्बन में हार्दिक परस्परावलम्बन आ ही जाता है। जो नहीं आता वह है उन्माद का मारनेवाला परावलम्बन। वह अर्थ-व्यवस्था, जहाँ व्यक्ति काम और पूंजी के अभाव में असहाय बनकर अपने को बेचने को लाचार पाता और इन्सान की जगह जड़ बनना स्वीकार करता है, राजनीतिक पार्टी शक्ति के जुगाने और जमा करने में इस मुसीबत की मारी होती है। लेकिन इस प्रकार अर्थ में से

खींची हुई शक्ति व केंद्रीकरण से उस अवस्था का विकार और बढ़ता ही है। मनुष्य काम और पूँजी के लिए पूँजीपति की तरफ न देखकर सरकारी विभाग की तरफ देखने को लाचार बने, तो इसमें मनुष्य की *पराधीनता किसी भी ओर से कम नहीं होती है। बल्कि सम्भव है कि यदि पूँजीपति नाम के मनुष्य में हृदय पत्थर बनकर रह जाता हो, तब सरकारी विभाग में तो उस हृदय नाम की चीज का होना ही अशक्य और अवैध हो रहता हो यानी वहाँ उस वस्तु का कहीं अता पता तक न हो।* इसलिए मनुष्य की स्वाधीनता की स्वयं उससे अलग ले जाकर इस या उस प्रकार के तंत्र में जुटा देखने की भूल को बढ़ावा गाधीजी ने नहीं दिया। उन्होंने कहा कि स्वाधीनता तो हरएक की मुट्ठी में ही है। तृष्णा स्पर्धा, लोभ का कम करके आदमी अपनी जगह पर मन-बुद्धि के पूर्ण सहयोग के साथ दोनों हाथों से उपजाने और काम करने में लग जाय, तो ऐसे वह अपनी ही स्वतंत्रता न कमा लेगा, बल्कि सब की स्वतंत्रता को भी पाय लायगा।

राजनीतिक और धार्मिक में यही अन्तर है। सागर में बूँद की गिनती नहीं है, लेकिन धार्मिक फिर भी बूँद की गिनती में रहता है। ऐसा वह श्रद्धा के बल पर ही कर पाता है। बूँद के बदलने से सागर कम बदलेगा, बदलेगा भी कि नहीं, इस व्यर्थ चिन्ता के नीचे ज्ञान से वह गहन पर जाता है। फल जो हो, उसे तो यही करना है। आदमी को बचाकर या अपने को बचाकर, राज्य पर या दुनिया पर जाना उससे नहीं बनता। यह उसकी कूपमण्डूकता समझी जा सकती है। समझा जा सकता है कि वह अपने में बन्द हो रहना है। असामाजिकता का दोष भी उसमें देखा जा सकता है। लेकिन व्यवहार की दृष्टि से भी इसमें इतना लाभ अवश्य है कि उस व्यक्ति से होनेवाला नुकसान उस पर ही पड़कर वहीं सीमित हो रहता है, उससे आगे फैल नहीं पाता। लेकिन अगर उससे लाभ होने वाला हो, तो वह अवश्य ही उससे बाहर की ओर जाये बिना नहीं रह सकता। फिर भी जो निरे बुद्धिमान हैं उनको यह दृष्टि नहीं जँचती।

थे। निश्चय ही उनके जीवन मूल्य जुदा थे। संसार उनके लिए साध्य न था, केवल साधन था। राज्य और स्वराज्य में उनकी कामना न थी, उसके द्वारा उन दुखियों को वापस हक के रूप में उनका सुख पहुँचा देने की कामना थी, जिसके छीनने में हम स्वयं साधन बने हैं। हम आराम और प्रभुता में रहनेवाले लोग अपना प्रायश्चित पूरा करने का अवसर पायें, यदि राज्य का और स्वराज्य का यह अर्थ हो तो उसके पदों के लिए आपाधापी की जरूरत नहीं रह जाती। कर्म का महत्त्व तब भार में आ जाता है और प्रतिष्ठा तब कर्म के कर्तृत्व में नहीं बल्कि उसमें के अकर्म भाव में आ रहती है। निश्चय ही धार्मिक गांधी का मूल्य चाहे जो हो उनके उत्तराधिकारी सांसारिकों के मन का मूल्य कर्म के कर्तृत्व से बाहर नहीं है। जोर शोर की कर्म-योजना में से न लोग बृहद् फल उगाना चाहें तो उनकी दृष्टि से इसमें अयथार्थ कुछ नहीं है।

पर उसमें से निराशा ही फलित होती देखी जाती है। निराशा से फिर कर्म को द्विगुणित वेग भी दिया जा सकता है। शस्त्रास्त्र से लड़ा जानेवाला युद्ध निराशा से वेग पाये हुए कर्म का ही तो नाम है। लेकिन ऐसा बहलावा कब तक आदमी अपने को देता रहेगा और इस तरह स्वयं अपने मन को ही धक्का देने के काम से कब तक छुट्टी पाता चला जायगा! वह काम टालो मत, इस पल से ही उसमें लग जाओ—यह गांधीजी ने कहा। यह वह काम है जो सब के लिए इसी घड़ी सुलभ है और जिसे किसी योजना पर स्थगित करने की आवश्यकता नहीं है। यह सीख एक विरक्त संन्यासी की-सी समझी जा सकती है। लेकिन यह उन गांधीजी की थी जो सच्चे और पूरे अर्थों में आज के भारत के राष्ट्रपिता हो गये हैं। उस नैतिक धन को जो वह कमाकर हमें सौंप गये हैं, चाहें तो हम गँवा सकते हैं। अथवा उसे रख भी सकते हैं। आँख मोलकर उसे ऊँच पर टालना चाहें तो इसमें भी कुछ हर्ज नहीं है। लेकिन कहीं हम मानें कि धन तो नैतिक होता ही नहीं और जो असल में धन होता है वह तो उनकी गाँठी हुई थैली में हमें मिला ही नहीं है और यह कहकर

यह भाग है जो धर्म में लगकर जीता और चलता है। दूसरा तरफ शहरी श्रेणी है जो कर्म से लिपटी है। धर्म और कर्म के बीच खाई है, जिसका फैलाव बढ़ाता ही चला जा रहा है। शहर गाँव पर कृपा से हँसता है और चतुराई से वहाँ की उपज अपनी तरफ खींच रहा है। धर्म की यही महिमा है। धर्मी गाँव की महिमा यह है कि ठगा जाता है और अभाव में भी संतोष पाने का प्रयत्न करता है। भयंकर भूल होगी अगर गाँव के धर्म को और सन्तोष को हम शहर पर लाने के बजाय शहर की चतुराई लेकर गाँव को उकसाने और उभारने हम जा पहुँचेंगे। ऐसे आग ही लगेगी और सब जल जायगा। यही हो रहा दीखता है। राजनीति जिस कर्म-मद से लड़कर अपना सुधार और उद्धार का काम करना चाहती है उसकी फितरत में अधिकांश यह विष समाया हुआ है। उस विष-हरण की अक्सीर दवा के रूप में गांधीजी के प्रार्थना के आग्रह और रामनाम की धुन को हम साथ न लिये चलेंगे तो गड्ढे में पड़ने से बचा न जा सकेगा। कम्युनिज्म वह गांधीवाद है जिसमें से हत्या करके ईश्वर को अलग कर दिया गया है। इस तरह वह सब कुछ होकर अन्त में केवल एक निषेध रह जाता है।

कम्युनिज्म आज शक्ति है। आज बड़ी दुनियावी शक्ति है। शक्ति वह निस्सन्देह घृणा में से आती है। सच है कि शक्ति घृणा के बिना नहीं होती। इससे निरा साधुतावादी साम्यवाद का जवाब नहीं हो सकता। गांधी गांधी थे, सिर्फ साधु नहीं थे। योद्धाओं में प्रखर कर योद्धा थे। असत् से वह कभी समझौता नहीं कर सके। इस प्रकार असत् के विरोध में उनमें सदा एक दुर्धर्ष तेज जगा रहता था। व्यक्तिवादी जिस भीषण क्रूरता के साथ सत्य का अपना ईमान मान सकता है, गांधीजी ठीक वहीं कोमल अकटुता के साथ सत्य को अपना धर्म मानते थे। उनमें भी घृणा थी और वह स्वयं घृणा के प्रति थी। यह घृणा उनमें इतने गहरे तक थी कि जितनी साम्यवादी में पूँजीपति के लिए हो सकती है। इस तरह गांधी की अहिंसा किसी की भी हिंसा से कम प्रखर न थी।

गांधीजी और हमारी राष्ट्रीयता

गांधीजी और भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्य का समय भारतीय इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण युग है। उसमें बहुत-सी बड़ी-बड़ी घटनाएँ घटीं, आन्दोलन और दमन हुए, अंग्रेजी हुकूमत गयी, भारत दो टूक हुआ, और अन्त में गांधीजी गोली खाकर धराधाम से विदा हो गये।

उनके बाद से भारत अपनी स्वतन्त्रता में जूझ रहा है और अपने को मुसीबत में अनुभव करता है। उसमें से कटकर पाकिस्तान बना है और इस विभाजन में से शरणार्थियों की समस्या आ बनी है। यह समस्या चैन नहीं लेने देती है। यह मजबूर करती है कि राष्ट्रीयता को उलट-पलटकर फिर फिर परखा जाय और उसके सम्बन्ध में सही दृष्टि प्राप्त की जाय।

गांधीजी के रहते भारत की राष्ट्रीयता का समग्र भाव दर्शन मिलता रहा। स्वयं गांधीजी को वह समस्या नहीं छूता था। कारण, उन्होंने अपना धर्म अहिंसा माना था। अहिंसा धर्म होने से एक और अनेक की समस्या का उनके भीतर ऐसा समाधान हो जाता था कि तात्त्विक बाद कठिनाई उद्‌भूत नहीं होती थी। बाहर से व्यवहार की कठिनाई जो आती थी, उनकी आन्तरिक श्रद्धा से छूकर वह कुछ हल ही होती थी, स्थायी न हो पाती थी। अपने और अपनी आत्मा के रहकर सबके बनते जाने में कुछ कठिनाई नहीं हुई। सबके होने के लिए उन्हें अपनी मर्यादा छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। एक में से ही उन्होंने सबको साधा। अन्त तक कहा कि मैं सनातन हिन्दू वैष्णव हूँ, उसी में से सब धर्म मुझे समान प्यारे हैं। वे सब भी मेरे हैं, मैं उनका हूँ। मेरा वैष्णवत्व मुझे यह सिखाता है।

यों यह स्थिति अपरिचित नहीं है। गृही और सभी लोग घर में उस

भाषा उनके लिए अनावश्यक हो गयी। अपने सत्य पर स्वयं डटे रहना और दूसरे को एवं दूसरे के सत्य को उसी प्रकार अवसर देना—इस निपट एक, फिर भी दुहरी नीति से पालन से उनके द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता को वह माग मिलता चला गया जो उसे चाहिए था।

किन्तु गांधी और कांग्रेस किसी भी समय एक नहीं हो सके। स्वयं गांधीजी ने यह नहीं होने दिया। गांधीजी भाव में ऐक्य इतना साध सके थे कि शरीराकार में तो विविध और विभिन्न बने रहना ही उन्हें उचित जान पड़ा। परिणाम यह कि जब उन्हें अनुभव हुआ कि कांग्रेस उनसे अलग स्वयं अपने पैरों खड़े होने की सामर्थ्य खो रही है, इतनी उन पर निर्भर होती जा रही है, तब उन्होंने कांग्रेस-मेम्बरी से भी अपने को अलग कर लिया। कांग्रेस का यदि अनिवार्य लगे कि वह गांधीजी का नेतृत्व माने और पाये, तो भी गांधीजी उसके संचालन सूत्र को अपने हाथ में थामनेवाले न थे। उनकी ओर से यह विभाग माना जवाहरलालजी को हो चुका था। परामर्श के लिए वह सुलभ थे, बाकी में छुट्टी थी कि जवाहरलाल कांग्रेस को अपनी राह चलायें। गांधी और जवाहरलाल के सम्बन्ध कायम के विरले मिलान के इतिहास की चीज है। जवाहरलाल जैसा गांधीजी का भक्त दूसरा मिलना कठिन है। पर अपने प्रति खरे रहने की आवश्यकता की अतिरिक्त चेतना से भी जवाहरलाल बच नहीं पाते थे। गांधी के प्रति समर्पण में भी जवाहरलाल कुछ भी अपने पास बचा रखना चाहते थे, सो नहीं पर गांधी समर्पण स्वयं लेना न सीखे थे। समर्पण सब भगवान का है। और गांधी इतने आस्तिक थे कि मानते थे कि कोई अलग ईश्वर की ओर से इसलिए नहीं बना है कि वह अपने अपनापन को, यानी अपने अलग 'मैं' और अपनी बुद्धि को अपने पास न रखे। इसलिए जब-जब जवाहरलाल की ओर से मतभेद उन तक गया तभी तब उनकी ओर से वह सुरक्षित वापस जवाहरलालजी को वापस कर दिया गया। उनको तोड़ने और गलाने का काम कभी रत्तीभर भी गांधीजी ने नहीं किया। जवाहरलाल स्वयं अपनी ओर से या करते हों

कर सकते थे। पर वह अपनी प्रकृति और रुचि का कहाँ ले जाते? इधर जो गांधी का समूचा मन और मस्तक था वह जवाहरलाल की समझ के हाथ किसी तरह न आता था। उस धारणा में जवाहरलाल को बल्कि अँधेरा इकट्ठा हुआ दीखता था। उस अँधेरे की जगह बिजली के जलते अक्षरों में वह 'उन्नति' लिख डालना और पढ़ डालना चाहते थे। गांधी धार्मिक थे पर जवाहरलाल आँख खोलकर धर्म को कैसे मान सकते थे? धर्म कहते थे और इतिहास बताता था कि वे आपस में झगड़ते आये हैं। ऐसी हालत में बहुत उदार हुए तो वह 'धर्म-निरपेक्ष' ही हो सकते थे।

इस पृष्ठभूमि पर हिन्दू-मुस्लिम समस्या के इतिहास को समझें। मुस्लिम के वही अधिकार हों जो हिन्दू नागरिक के, यह परिणाम तो दोनों ही को प्राप्त था। लेकिन जवाहरलाल के लिए जब कि हिन्दू-मुस्लिम दोनों शब्द वृथा थे और वहम थे, तब गांधीजी को दोनों धर्म और दोनों नाम प्रिय थे। राष्ट्रीयता जवाहरलाल के लिए इस अर्थ में असाम्प्रदायिक थी कि सम्प्रदाय से वह मुक्त रहे। गांधीजी के लिए उसके असाम्प्रदायिक होने का मतलब यह था कि वह प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए अपनी हो सके।

हिन्दू-मुस्लिम शब्द गांधीजी के लिए प्रतीक थे। परमेश्वर की अनन्तता नाना शब्दों का सहारा लेकर बनती और प्रगट होती है। हिन्दू-मुस्लिम के नीचे नाना भेद की वह समूची भूमिका हो आ जाती थी। भेद के प्रति अधीर और असहनशील होना क्या नास्तिकता ही न कहलायगी? बैर बैर से किया जा सकता है, वैसे से नहीं। बैरी मानकर चलने से बैर आप ही पलने लगता है, पर असल में तो बैरी कोई है ही नहीं। जो अपने को जैसा मानता है वह भूल में है, भय में है। बैर को मिटाने के लिए बैरी को मान देने से शुरू करना होगा। मान ऊपरी नहीं, बल्कि हार्दिक। ऊपर से तो बल्कि चाहे असहयोग और सत्याग्रह भी चल सकता है।

इस दृष्टि से गांधीजी ने इस्लामी राजनीति से अधिक इस्लाम धर्म की ओर ध्यान दिया। इस्लाम धर्म यदि शान्ति का है, और फिर भी अगर मुसलमान अशान्ति के लिए तुला दीखता है, तो कहीं-न-कहीं कोई

विकार हो उसमें कारण बना हो सकता है। शायद मुसलमान अपने कुरान से दूर चला गया है। मुसलमान के कारण पैदा हुए उलझन का हल कहीं बाहर से नहीं आयगा, वह उसी में से आयगा। वह इसी प्रयत्न में से आयगा कि मुस्लिम अपने को और अपने काम को अपने ईमान पर कसकर देखे। गांधीजी ने इसीसे हिन्दू को कहा—"सच्चे हिन्दू बनो", मुसलमान से कहा—'सच्चे मुसलमान बनो'। इस तरह हिन्दू के हिन्दू बनने और मुसलमान के मुसलमान बनने के आग्रह से सम्मिलित भारतीयता या राष्ट्रीयता कैसे पनपेगी, यह शंका गांधीजी को नहीं हुई। उनकी श्रद्धा थी कि अपनी-अपनी जगह सच्चे इन्सान बनने की कोशिश में से जो निकलेगा वही सच्चा होगा। राष्ट्रीयता भी वही सच्ची होगी। किसी भी धर्म को छोड़ने की जरूरत किसी के लिए क्या है? क्या कोई धर्म हो भी सकता है जो आदमी को सच्चा और नेक आदमी बनाने के लिए ही न आया हो? इससे राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिए काम नीचे गहराई में करना होगा। शायद उतनी गहराई में कि जहाँ मनुष्य का अन्तःकरण और उसका धर्म रहता है। असल वहीं है, वहाँ किया गया काम ऊपर फूल या फल में आप ही झलक आयगा। अतः मुख्य कर्तव्य मन का और चेतना का संस्कार है।

लेकिन यह न हुआ। गांधीजी को ही यह सब कर जाना था, यह मानना अपने को क्षमा दे लेना है। गांधीजी अपनी भाँति जीकर, चलकर और हमारी आँखों को खोल देनेवाली सफलता भी दिखाकर एक जीवन-नीति का उदाहरण सामने कर गये हैं। उससे अधिक करना किसी का काम नहीं है। उस मानव-नीति की भूमिका पर हमारा काम नहीं चल सका। राजनीति का आकर्षण रहा और राजनीतिक अधिकारों की चाह और माँग से वातावरण गर्म बना रहा। गांधीजी अंग्रेजी शासन के शत्रु और अंग्रेज जाति के मित्र थे। कांग्रेस राष्ट्रीय होकर शत्रुता समझ सकती थी, मित्रता नहीं। नीति का यह द्वैताचार (Exclusivism) यदि हमारी राष्ट्रीयता के लिए स्वीकार हो सकता था, तो उस द्वैत का विष यहाँ

तक रह जानेवाला न था। अंग्रेज के प्रति हिन्दुस्तानी गौरवपूर्वक द्वेष रख सकता है, तो मुसलमान हिन्दू के प्रति धर्मपूर्वक अपने में ईर्ष्या का भाव क्यों नहीं उपजा सकता? अर्थात् उग्र राष्ट्रवाद ने यहाँ भारत में निराष्ट्रवाद को जन्म दिया। जान पड़ा कि भारतीय इस्लाम की आवाज कायदे आजम जिन्ना की आवाज है। यह बात कि नमाज और कुरान में भी जिन्ना का उतना गहरा वास्ता नहीं है, उस समय किसी के लिए गौरव तक नहीं रह गयी थी। राष्ट्र धर्म मानव धर्म में स्वतन्त्र बन आया था और श्री जिन्ना एक स्वतन्त्र मुस्लिम राष्ट्र के जनता और निर्माता के रूप में प्रकट होते चले गये। जमीयत उल उलेमा, महत्त्वहीन चीज हो गया और मुस्लिम लीग जोर पकड़ती गयी। यह सब गांधीजी के रहते हुआ।

लीग का ईमान साफ था। हिन्दू एक कौम है, मुस्लिम दूसरी कौम है, और दोनों अलग हैं। सदियों से साथ रहे हैं, पास रहे हैं सही, लेकिन कायम अलग रहे हैं, और भारत को मुसलमान कौम के लिए एक अलग राज्य बनकर ही रहेगा। स्पष्ट ही यह राज्य बढ़ाने की नीति थी।

सम्मुख उसके गांधीजी की मानव-नीति थी। उनका कहना था कि अलगाव चाहते हों, तो जबरदस्ती से उसे रोका कैसे जायगा? इससे जबरदस्ती में कुछ स्नेह की बात भी क्या सार है? आखिर क्या हिन्दू मुसलमान होने से भाई भाई नहीं रहे? बँटवारा भाइयों में भी होता है। अपने दो के बीच तीसरे अंग्रेज को लाने से मन में फर्क पड़ता है और काम आसान नहीं होता। यह मान लो कि हम एक कुनबे के हैं और फिर चाहो तो बँटवारा ही कर लो।

पर आपस का वातावरण न था। न कांग्रेस के पास न लीग के पास। लीग राजनीतिक थी तो कांग्रेस कम राजनीतिक न थी। अंग्रेज जाने लगे तो यहाँ का अपना राज्य किस पर छोड़कर जायें? जाने में उनके रुख होता जाना भी भला न था। आरजी या राजकाज का इन्तजाम किया या नहीं नक्शा नहीं दीखता था। खींचतान इतनी थी कि काम रुका था और मनमानी चलती थी। कांग्रेस की नीति और सिद्धान्त का मग्या

नहीं थी, उसकी जिम्मेदारी तात्कालिक और व्यावहारिक भी। राज्य उस चलाना था। दोनों की घिस घिस से क्या लाभ? चलो, झगड़े में एक बड़ा आपरेशन ही सही। इस भाव से, नीति में और वातावरण में संशय और हिंसा होते हुए भी अंग्रेज के हाथों कांग्रेस ने टूक-टूक हो जाना स्वीकार कर लिया। टूक-टूक हो जाना इसलिए कि यह काम बाहर से हुआ था, और सौहार्द साथ न था। आपस के समझौते से होकर वह चीज बँटवारा कहलाती और मन में मैल न छोड़ जाती। पर इस टूक होने में से जो निकला वह तमाम आगे आनेवाले राजनीतिज्ञों के लिए चेतावनी का काम दे सकता है। चेतावनी यह कि राजनीति के लिए मानव-नीति का छोड़ना कभी-कभी शुभ होनेवाला नहीं है।

उसके बाद से भारत की राष्ट्रीयता कसौटी पर है। विभाजन के बाद गांधीजी ने तो अपने लिए रास्ता निकाल लिया था। उन्होंने कहा कि हुकूमतें दो हुई हैं, दिल तो दो नहीं हुए। आगे उन्होंने कहा कि क्या लकीर खिंच जाने से लाहौर मेरे लिए गैर हो जायगा? मैं वहाँ जाने-आने के लिए भी पासपोर्ट की सोचनेवाला हूँ! इस तरह कानूनन अगर दो हो गये और उनकी सरकारी राष्ट्रीयताएँ दो हो गयीं तो गांधीजी ने अपने निकट इस नये द्वैत को स्वीकार नहीं किया। स्वीकृत राष्ट्रीयता से उन्होंने अपने को अलग कर लिया। यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि यहाँ की राष्ट्रीयता ने अपने को गांधीजी से और गांधी भाव से अलग कर लिया।

गांधीजी किसी भी तरह पाकिस्तान में बसनेवाले मुसलमान को अपने लिए विदेशी बनाने को तैयार न थे। स्वयं हिन्दू थे, इसलिए मुसलमान उनका और भी अपना था। पाकिस्तान नाम हो जाने से पंजाब, सू सरहद, सिन्ध, बिलोचिस्तान या पूर्वी बंगाल के बहुसंख्यक मुसलमान लो उनके लिए इतने पराये नहीं हो सकते थे कि उनकी कृपा और गलतियों का अनन्यी कर दें। भारत यूनियन में वह स्थिर नहीं बैठ सकते थे भारत का पाप अगर उनके लिए अपना था, तो पाकिस्तान का भी पाप उनके उतना ही अपना था। मुसलमान के पाप के लिए भी प्रायश्चि

करना उन्होंने अपना धर्म मान रखा था। इसलिए पाकिस्तान में होते हुए अन्याय पर हाथ पर हाथ धरे रहने के लिए वह मजबूर न थे।

लेकिन कांग्रेसी राष्ट्रीयता अपने साथ दगा कर चुकी थी। वह पाकिस्तान के सम्बन्ध में असहाय हो चुकी थी। विरोधी के रूप में भी पाकिस्तान पर वह प्रभाव डाल सकती थी, या उसमें निश्चय का भाव भर सकती थी। आत्मीय के रूप में उसका मन और मत बदलने या उस तरह उसकी गलती से बाज आने के लिए मजबूर किसी तरह न कर सकती थी।

नतीजा यह कि मुसलमान के पास दो साथ या दो हो गये। पाकिस्तान उसका अपना धर्म-भूमि के नाते और भारत भी अपना जन्म और कर्म-भूमि के हक से। पाकिस्तान मुस्लिम राष्ट्रीयता के नाम पर बना था और उसी रूप में अपने को कायम रखने का उपाय उसके पास था। इसकी प्रतिक्रिया में भारत में हिन्दू राष्ट्रीयता उभरी। हिन्दू ने अनुभव किया कि पाकिस्तान जब कि उसका है नहीं, तब हिन्दुस्तान को पूरी तरह उसका हो। कांग्रेस को यह स्वीकार न था। उसकी हुकूमत धर्मनिरपेक्ष होकर ही चलनेवाली थी। हिन्दू-मुसलमान में भेद पालना उसे मंजूर न था।

भारत की राष्ट्रीयता की स्थिति में यह उलझन जारी ही है। कांग्रेस भारत यूनियन की सरकार बन चुकी है और उससे अलग उसकी कोई स्थिति नहीं है। बल्कि कहा जा सकता है कि ताकत सरकार है और उस बल के अभाव में कांग्रेस संस्था निराधार ही है। खान अब्दुल गफ्फार खां जैसे कांग्रेस के अनन्य सेवक और सैनिक रहे हैं, लेकिन कांग्रेस में उस नाम को आज मुँह पर भी नहीं ला सकता। यानी कांग्रेसी राष्ट्रीयता हत-बन्ध है। इस्लाम के नाम पर बराबर में जो एक नया राष्ट्र उसी के शरीर में से कटकर बन गया हुआ है, उससे मुँह फेरकर ही चलना था और लाचार है। वह मुसलमान को इस शर्त पर ही अपने अन्दर समा सकता है कि वह भारत की परिधि में हो। परिधि से बाहर होकर मुसलमान उसके मन से भी बाहर हो जाता है। हिन्दू इसलिए कांग्रेस की राष्ट्रीयता में आश्वस्त नहीं हो पाता। समाज में उसे उद्धार नहीं मिलता और यों इस कारण

नहीं दासता ना भारत व मुसलमान को दुहरा वफादारी से बचा सके।
हिन्दू नहीं समझ सकता कि मुसलमान को दुहरा लाभ क्यों मिलता चला
जाय और क्या मुस्लिम-मुक्त भारत की राष्ट्रीयता हिन्दू-राष्ट्रीयता न बन
जाय ? हिन्दू राष्ट्रीयता म यह नहीं आता कि मुसलमान यहाँ न रह, इतना
ही है कि हिन्दुओं के सद्भाव के आधार पर ही यह रह और देश हिन्दू-राष्ट्र
समझा जाय इस तरह गांधीजी की मौलिक मानवीय राष्ट्रीयता के अभाव
म इस समय दो राष्ट्रीयताओं म दरारदी है। दोनों को मौलिक की
जगह तात्त्विक कहा जा सकता है। एक कांग्रेसी और धर्म निरपेक्ष,
दूसरी संघी और हिन्दू धर्म-परायण।

नए कि कुछ शक्तियाँ ऐसी है जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता को अदाय
नहीं देती और वे राजनीति म सक्रिय हैं, राष्ट्रीयता के विचार में विशेष
महत्व की बात नहीं है। साम्यवाद राष्ट्र से अलग होकर विचार करता
है, लेकिन साम्यवादी दल कहीं भी राष्ट्र के साँचे या राष्ट्रीय मान का
अलग छोड़कर नहीं चलता। शक्ति वह अपने लिए वहीं से खींचता है।
लेकिन राष्ट्र और राष्ट्रीयताएँ उसके लिए प्रयोजन सिद्ध करने के साधन
है इससे धर्म परायण अथवा कि धर्म निरपेक्ष राष्ट्रीयता के इन दोनों
प्रकारों के सम्बन्ध म उसे विशेष चिन्ता नहीं है। चिन्ता उसे यदि है तो
यह कि लोक-चेतना आर्थिक की जगह कहीं नैतिक न हो जाय।

मेरा मानना है कि राष्ट्रीयता का गांधी-आधार यदि हम स्वीकार
करना चाहें तो उससे दूसरे पहलुओं को छोड़ना स नहीं चलेगा। अहिंसा
का, यानी समन्वय का, सत्य और सत्य के आग्रह के साथ चलने से
भारत राष्ट्र उठ सकेगा और शायद दुनिया के लिए भी कुछ कर सकेगा।
समन्वय म मेल और समझौता है, तब सत्य के आग्रह म से अवश्य
और शान्ति-युद्ध भी निकल सकता है। जब तक इतने प्रबल और
हो रहे हैं, तब मानव की आत्म प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता के लिए नरसंहार
नहीं सविनय प्रत्यक्ष रूप म गांधी नीति का व्यवहार करना होगा।

★

३

अहिंसा

अहिंसा का बल

[illegible] मनुष्य [illegible] के [illegible] । [illegible] के [illegible] किया कि [illegible] —

सुनरी मैंने निर्बल के बल राम ।
अब लौं गाये बल भरना [illegible]
[illegible] मरा नहीं काम ।
निर्बल ह्वै बलराम पुकार्यो
आये आधे नाम ॥
द्रुपद-सुता निर्बल भई ता दिन
गहलाये निज धाम ।
दुःशासन की भुजा थकित भई
बसनरूप भये स्याम ॥
अपबल तपबल और बाहुबल
चौथो है बल दाम ॥
सूर किशोर कृपा से सब बल
हारे को हरिनाम ॥

[illegible]

[illegible]

सुनाचे लाटकर उन सम्पादक भाई ने अपने पत्र में लिखा कि अहिंसा के नाम पर यह तो निर्बलता की सीख दी जा रही है। महाभारत में पाण्डवों को विजयी करनेवाली हम कृष्ण की अहिंसा चाहिए। हमको अग्नि के समान तेजस्वी अहिंसा चाहिए। भगवतगीतावाली और गदौदों वाली अहिंसा चाहिए।

मेरी विनम्र सम्मति में सम्पादक भाई अहिंसा का नशा समझ और उन्हें उस शब्द के साथ खेलना नहीं चाहिए।

लेकिन सम्पादक भाई को यहाँ छोड़ा जा सकता है और विचार किया जा सकता है कि अहिंसा में बल है, तो किस प्रकार का बल है? बल ही असल में क्या है? ऊपर के भजन में सब बल हार जाने पर हार को हरिनाम का बल प्राप्त होना बताया है। इसका क्या आशय है?

आदमी को आज हम पशु से निर्बल नहीं कह सकते। पशु से वह श्रेष्ठ है, यानी बल में भी श्रेष्ठ है। शेर उसके सामने में है और हाथी पर वह सवारी करता है।

पर यह भी स्पष्ट है कि शेर के पंजे और दाढ़ से आगे आदमी नाचीज है, और हाथी के पाँव-तले आदमी की जान बाकी नहीं रह सकनेवाली है।

फिर भी आदमी उन पशुओं से बल में हीन नहीं है, तो क्या

उत्तर है कि जिस बल से पशु बलवान है, उसको तो आदमी ने स्त्र बना लिया है। उसको तो अचल ही बनाकर रख दिया है। क्योंकि उसने एक ऊँचे बल का आविष्कार किया है। उसका बुद्धि-बल जोर पकड़ जाता है। उसमें आगे पशुबल नपुंसक बना दीखता है।

प्रारम्भ में आदमी अन्य वनचर प्राणियों में एक था। प्रकृति की कृपा से मानो वह वंचित था। न उसके पंजे नहीं, न दाँत तेज नहीं। देह में दुबला। शीत-ताप से बचने को खाल या रुआल भी उसे प्राप्त नहीं। प्राणियों में सबसे अभागा प्राणी उस वह सकते। तरह-तरह के अभावों से वह घिरा था और हैरान था।

पर यह अभाव ही प्रकृति की ओर से आदमी को वरदान था। उस आदमी के द्वारा विकास का एक कदम आगे बढ़ना था। इसी में वह निरस्त्र बना, ताकि एक नये बल का आविष्कार करे।

आदिम मानव की चेतना चहुँ ओर के दबाव से अभिभूत हुई। भय में उसे भीत रहना पड़ता था। वह अनायास अपनी रक्षा करने में असमर्थ था, जीवन-रक्षा तक के लिए उसे पुरुषार्थ की आवश्यकता थी। प्रकृति ने उसे अभाव दिया कि अभाव में से आविष्कार का उदय हो।

तब से अब तक सभ्यता का इतिहास नये बलों के आविष्कार का इतिहास ही है। प्रत्येक नवीन बल ने पुराने बलों को अपदस्थ ठहरा दिया। असल में नवीन बल का आविष्कार सदा ही उस व्यक्ति द्वारा हुआ है जिसके मन में पुराने बलों की अयथार्थता पहले ही घर कर गयी है। आविष्कारक दुनियावी सफलता से विमुख रहे और प्रतिभावान धनशाली नहीं होते। क्यों? क्योंकि दुनियावी सफलता और धन की यथार्थता में एक ऊँची यथार्थता का आभास उन्हें होता है। तब उनके लिए लोक वैभव आदि अयथार्थ ही हो उठता है। समग्र इतिहास के भीतर जिस जिसने कुछ दिया, यानी मानवता के धरातल को ऊँचा उठाया उसने तत्काल के प्राप्य को हेय माना, और आगे की सम्भावनाओं को अपनी साधना से सम्भव बनाया।

अहिंसा का बल, बेशक, किसी भी दूसरे लौकिक बल के प्रयोग का स्वेच्छापूर्वक त्याग किये बिना सम्भव नहीं हो सकता। वह जड़ बल नहीं है। इसलिए बुद्धि-बल से भी वह भिन्न है। दुनिया में जिन बलों को हम जानते हैं, उनसे वह निराले प्रकार का है। उस बल से बलवान आदमी जितना ही अपने को विनम्र मानता है, वह उतना ही सेवक बनता है। क्योंकि वह अहं का नहीं है, इसीलिए वह हरि का है। अर्थात् सच्चा अहिंसक पुरुष अपने को प्रार्थनापूर्वक शून्यवत मानता है।

इसीलिए अहिंसक शक्ति सम्पादन करनेवाले को उत्तरोत्तर अकिंचन बनना होता है। जिसके पास धन के, कुल के, विद्या के, बुद्धि के, धर्म के

...ता के लिए स्थान बचा है, वह अभी अहिंसा के बल का पूरा पात्र नहीं है। अभ्यंतर को उन सब से जितना अधिक खाली किया जायगा, उतना ही सच्चे अहिंसा के बल को चित्त में आने का अवकाश होगा।

जो आस्तिक है उसे अपने ईश्वर के सिवाय दूसरा और सहारा ही क्या चाहिए? इसलिए उसे अस्त्र भी नहीं चाहिए। अस्त्र शंका में से और भय में से आता है। लेकिन आस्तिक को शंका कैसी? और उसको भय कैसा? मृत्यु में भी क्या वह अपने ईश्वर की कृपा और उसके आनन्द को ही नहीं देखता? इसलिए मृत्यु की भेंट में भी उसे कोई झिझक नहीं है। वह समभावी है। उसे अविश्वास की जरूरत नहीं, क्योंकि वह आत्मविश्वासी है। किससे डरने को वह अस्त्र बाँधे? उसका ईश्वर तो सब कहीं है।

इसलिए प्रार्थना में से ही वह अपना बल प्राप्त करता है। वह बल कारुण्य में से बनता है और स्नेह उसके दान का स्वरूप होता है।

क्या हम जिसे बल कहते हैं उसे भीतर में समझने का प्रयास कर सकते हैं? अगर कर सकते हैं, तो हम देखेंगे कि उस प्रकार के हर एक बल के नीचे एक निर्बलता की अस्वीकृति है। क्रोध में ताकत है, पर क्रोध में गमन की कमजोरी है और उस कमजोरी को न मानने की कोशिश है। शेखी अन्दर की कमी की अनुभूति को ढकने के लिए बनती है। बहादुरी, सिपाहियाना बहादुरी, कौन कहे कि एक प्रकार के भय का ही बचाव नहीं है? अर्थात् सब प्रकार का अहंबल अपनी भीतरी निर्बलता की विमुखता में से आता है। भीतर ही भीतर हम जानते हैं कि हम निर्बल हैं, पर मानो हम अपने को ही जतलाना चाहते हैं कि हम निर्बल नहीं हैं। इसी द्वंद्व की स्थिति में से तमाम लौकिक बलों का जन्म होता है।

लेकिन जब हम सत्वर धन्य भाव में अपनी अबलता को स्वीकार करते हैं और उसे मानो आँसुओं के रूप में ईश्वर के चरणों में, जो ईश्वर कि सब शक्तियों का स्रोत है, विसर्जित कर देते हैं, तो वह आत्म शक्ति प्राप्त होती है जो कभी हार या टूट नहीं सकती। वह मूल तक गयी है,

२

अहिंसा और मुक्ति

इधर बार-बार मेरे मन में प्रश्न हुआ है कि जीवन-मुक्ति अथवा मोक्ष क्या है? यह प्रश्न किसी शास्त्रीय तत्त्व की जिज्ञासा में से नहीं बना है। जीवन की आवश्यकता में से ही मेरे निकट यह वो उपस्थित हो गया है। और उसका उत्तर हर बार उत्तरोत्तर स्पष्टरूप में अपने भीतर से मुझे यही मिला है कि जीवन की मुक्ति अहिंसा में है।

अहिंसा में कहा, अहिंसा द्वारा नहीं कहा। कारण, अहिंसा साधन या सीढ़ी नहीं है जो कभी अनावश्यक हो जाये। वह एक ही साथ साध्य भी है जिसकी आवश्यकता कभी निःशेष न हो। उसका प्रयोग सर्वव्यापी है। उसे लाँघा नहीं जा सकता। इस अर्थ में वह परम धर्म है। वह कोई अचल स्थिति नहीं है, सतत क्रियमाणता है। उसमें गति का अनन्त अवकाश है। अर्थात् कोई यह नहीं कह सकता कि वह अहिंसक है, कह यह सकता है कि अहिंसा का प्रवासी साधक है। इसी अपेक्षा में अहिंसा द्वारा की जगह अहिंसा में मुक्ति की उपलब्धि है यह कहना मुझे अधिक यथार्थ मालूम होता है।

ये शब्द कुछ भारी और व्यवहार से दूर गये हुए से लग सकते हैं। पर असल में ऐसा नहीं है। सच पूछिये तो नित्य प्रति के व्यवहार के प्रश्नों को लेकर इन शब्दों की सत्यता मेरे लिए और भी अनिवार्यता से प्रगट हो आती है।

मुक्ति और मोक्ष शब्दों में ध्वनि कुछ शास्त्रीय आ जाती है पर क्या हर समय हम अपने को बंधन में नहीं अनुभव करते? क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र के रूप में हम स्वतंत्रता के लिए ही नहीं छटपटाया करते?

क्या हर कोई—व्यक्ति, दल, राष्ट्र या साम्राज्य—परिस्थितियों से अपने को जकड़ा हुआ ही नहीं पाता और उनसे आज़ाद हो जाना नहीं चाहता ? क्या हम कह सकते हैं कि जो विग्रह और संघर्ष हमारे कौटुम्बिक, सामाजिक और विश्वव्यापी जीवन को अशान्त और अस्त-व्यस्त किये हुए हैं, वे अपनी-अपनी स्वतन्त्रता की इच्छा और चेष्टा में से ही हमने नहीं उपजा लिये हैं ? और क्या अन्तत उनसे मुक्ति ही हम नहीं चाहते हैं ?

इस तरह मुक्ति कोई पारलौकिक लक्ष्य नहीं, हमारे हर कर्म और क्षण की आवश्यकता है। ऐहिक और लौकिक लक्ष्य भी उससे दूसरा नहीं है।

किन्तु समस्या भी ठीक इसी जगह है। जगत् में असंख्य जीव हैं। सबको स्वतन्त्रता चाहिए। मैं अपनी और तुम अपनी स्वतन्त्रता चाहते हो। इसमें संघर्ष आता है और शिष्ट व्यवहार यह सूत्र निकालता है कि जहाँ से दूसरे की स्वतन्त्रता का आरम्भ है वहाँ एक की स्वतन्त्रता की सीमा है।

पर विचारणीय है कि जो सीमित है, क्या वह स्वतन्त्रता सच्ची हो सकती है ? इसलिए व्यवहार में यह सूत्र कभी पूरा नहीं उतरता है। सीमाओं पर लोगों की अलग-अलग स्वतन्त्रताएँ सदा ही रगड़ खाया करती हैं और इस प्रकार नये नये युद्धों को जन्म मिलता रहता है।

कहते हैं कि राज्य में एक राजा और जंगल में एक शेर रह सकता है। यानी उस राज्य में यदि कोई स्वतन्त्र है तो वह एक राजा, और जंगल में कोई आज़ाद है तो शेर। स्पष्ट है कि पेड़ों के और राजनीति व जंगल की यह स्वतन्त्रता शेष सबकी परतन्त्रता के आश्रय पर ही एक के लिए सम्भव बनती है। स्पष्ट ही मेरी स्वतन्त्रता पूर्ण तभी है कि जब तुम या कोई ऐसा न रहे जो मेरे रहते अपने को गिने, इसी तरह तुम्हारी स्वतन्त्रता यह चाहेगी कि कोई दूसरा ऐसा न रह जाये कि जो तुम्हारे रहते अपने को स्वतन्त्र माने। इस पद्धति से दूसरे की पराजय में एक की सफलता और उसको पराधीन रखने में अपनी स्वाधीनता है।

सचमुच यह प्रतिपादन करनेवाला एक जीवन दर्शन ही बन खड़ा हुआ है। इसमें उसे भी मुक्ति है, पर वह उसकी सिद्धि संघर्ष में से देखता है। युद्ध उसका माध्यम है राजनीति उसका क्षेत्र है, वह अहं शक्ति का प्रबल से प्रबलतर, यहाँ तक कि अद्वितीय बनाकर व्यक्ति को अपनी मुक्ति सिद्ध करने का मार्ग दिखाता है। यहाँ व्यक्ति सबको अपनी आज्ञा में लेकर, उनके ऊपर बैठकर, अपने को बंधनहीन अनुभव कर सकता है।

इसीको प्रकृति विज्ञान माना जाता है। इसमें जीव जीव का भोजन है और बल ही न्याय है। यहाँ सबल होना ही एक धर्म और निर्बल होना ही एक पाप है।

समझा जाता है कि अनंत इतिहास में से जीवन का विकास इसी पद्धति से हुआ है। प्रबल जिया है और निर्बल के प्रति दया पालने की बात पर वह रुका नहीं रह गया है। गति इसी प्रकार सिद्ध हुई है और कालचक्र किसी ममता को नहीं जानता है। देखो विधाता को और प्रकृति के विधान को। क्या वह निरंकुश, निर्मम और निरपवाद नहीं है? क्या द्वन्द्व ही जगत् का नियम नहीं है? और यदि समस्त प्रकृति का नियम संघर्ष अथवा हिंसा है, तो मानव समाज का भी नियम उससे दूसरा नहीं हो सकता।

यह विचार-दर्शन अत्यन्त तर्कपुष्ट है। बल्कि उस तरह तमाम सृष्टि के मध्य में अपने को मानकर उसका आकलन किया जा सकता है। अपनी निजता की मात्रा में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता देख सकता। इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। एकनिष्ठ व्यक्ति दृढ़ संकल्प के द्वारा, दूसरों को कुचलते हुए, विजेता बन गये हैं—इतिहास भी तो यह दिखाता है।

किन्तु इसी जगह अटक भी है। यदि जीव अनेक हैं, और सबकी मुक्ति इष्ट है, तो सच्ची मुक्ति क्या वही न होगी जो दूसरे की सत्ता से टकराए नहीं, बल्कि दूसरों को अपने में समा ले?

हम मानते हैं कि मुक्ति का लाभ और दान विया तो इन श्रेष्ठ और अकिंचन पुरुषों ने ही। यह मुक्ति ऐसी थी कि जिस पर कोई सीमा और समाप्ति न थी। उस मुक्ति में से माना सभी को कुछ-न-कुछ अंश मिला।

धन से और सत्ता से मिलनेवाली स्वतन्त्रता, और प्रेम तथा प्रार्थना से प्राप्त होनेवाली मुक्ति के अन्तर का क्या हम सबको स्वयं थोड़ा-बहुत अनुभव नहीं है?

पहले में अभिमान फूलता है और अनिवार्य रूप से उसकी फिर प्रतिक्रिया होती है। उससे कषाय की वृद्धि होती है और हमारे मन पर सूक्ष्म बन्धन लिपटता जाता है। दूसरे प्रकार की मुक्ति का आनन्द अनिकल और अन्तस्थ है। स्पष्ट है कि कषाय में हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते, अधिकाधिक बँध ही सकते हैं। अहंकार बढ़ेगा उतनी ही बन्धन की जकड़ बढ़ेगी। अहंकार जातीय या राष्ट्रीय होने से अपने गुण में बदल नहीं जाता। इससे मुक्ति का रूप कुछ वही हो सकता है, जहाँ अहंकार का विसर्जन हो और मन में आत्मौपम्य का विकास हो। यही अहिंसा की साधना है।

बारीकी से देखें तो मानवता का इतिहास अहिंसा की ओर ही बढ़ रहा है। जब हम धन चाहते हैं, तो इसलिए चाहते हैं कि उससे अपने प्रेम को चरितार्थ कर सकें। अर्थात् लोक कर्म में, जिसमें हिंसा गर्भित है हम प्रवृत्ति इसी आधार पर कर पाते हैं कि अन्तरंग अपने प्रेम को यानी अहिंसा को निष्पन्न कर सकें। जाने-अनजाने अपने समस्त कर्म-व्यापार की हिंसा में से हम अहिंसा की चरितार्थता की ओर बढ़ रहे हैं। यहाँ तक कि दिखते युद्ध भी कुछ-न-कुछ अहिंसा की पहचान की ओर ही हम बढ़ते जाते हैं।

किन्तु आज हम उस जगह पर आ गये हैं जहाँ यत्न और वेग से हम अहिंसा की दिशा में पग रखना होगा। ये सब आन्दोलन जो सचमुच स्वतन्त्रता को चाहते हैं—चाहे फिर वह व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र की स्वतन्त्रता हो—मूल में अहिंसा की परमावश्यकता से विमुख नहीं हो सकते।

निरत होंगे तो अपना लक्ष्य सिद्धि में तो विफल होंगे ही, साथ में एक गम्भीर निराशा के भी शिकार होंगे। अथवा बनकर दूसरे की अस्मिता को चुनौती दिये बगैर रह नहीं सकती। इस तरह निकृष्ट युद्ध विकृततर युद्ध का बीज ही बो जायगा। इस विषयचक्र की समाप्ति तब तक नहीं है जब तक कोई निश्चित रूप से शत्रु को पकड़कर अहिंसक निर्भयता को अपना नहीं लेता और सब को नमस्कार करता हुआ हिंसा को अपने ऊपर वार करने का निमन्त्रण ही नहीं देता।

यही अहिंसा है जिसका भाजन हिंसा है। जिसे हिंसा से भय नहीं, स्तुति निन्दक में प्रीति है। जो स्वयं अमर है, इससे हिंसा के शिकार की गिनती जिसे प्रत्यक्ष है। जिसमें अनुराग है और जीवन के प्रत्येक स्पन्द के प्रति जिसमें करुणा है।

इस अहिंसा का विचार जरूरी बनाता है कि हम अहिंसक समाज रचना की पूरी परिकल्पना उपस्थित करें। इतना ही नहीं बल्कि अपने बीच तदनुकूल समाज सङ्गठन का निर्माण करें। अहिंसा यदि अन्य सद्गुणों की भांति केवल मात्र एक सद्गुण ही नहीं बल्कि सत्य है यानी सृष्टि में अनुस्यूत एक शाश्वत नियम है तो आवश्यक है कि जो लोग उस अहिंसा में निष्ठा रखते हैं वे नवजीवन के निर्माण में सचेष्ट हों। आज के महायुद्ध के बाद सचमुच दुनिया का नक्शा बदल रहा है। इस निर्माणक्रिया में नव जन्म का आविर्भाव होना है, दुनिया को नये सिर से बनाने का काल आनेवाला है। राजनीति और समाजनीति की पुरानी भूमिकाएँ गल गये हैं। उनका मानों दिवाला निकल चुका है। नये विश्वास के विचारकों को युद्धोपरान्त बरबस उस सनातन सत्य अहिंसा की ओर लौट आना पड़ेगा। सच यह है कि उस अहिंसा को हमने शास्त्रीय बनाकर निकम्मा कर दिया है। हमने नष्ट कर दिया है। अपनी निष्क्रियता से उस शस्त्र के तेज को घटाकर ही हम उस अहिंसा को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। अपने जीवन की निष्ठा और समर्पण का विचार हिंसा तो यूरोप की लाइब्रेरियों में भी बन्द है। माँग उस अहिंसा

की है जो जीवन में ज्वलंत हो। वही विश्व की पुनर्रचना के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश दे सकेगी। उस प्रकाश की आवश्यकता है। बारूद के और वादविवाद के धुएँ से अँधेरा छाया हुआ है। इस अँधेरे में आपा धापी ही चल सकती है। अरे, इस अँधेरे में जाने क्या नहीं हो रहा है। ऐसे में प्रकाश चाहिए। यदि आपने भगवान् महावीर ने प्रकाश के स्रोत को पाया था, तो उसकी दुहाई से काम नहीं चलनेवाला है। स्वयं उस स्रोत से मिले प्रकाश को जगत् के सम्मुख करना होगा।

सच, इस समय बुद्ध और महावीर के धर्म को जो मानते हैं उनका बोझ भारी है। वे चाहें तो उस बोझ को पटक सकते हैं। लेकिन अगर वे उसको उठाये ही रखना चाहते हैं, और चाहते हैं कि वे महावीर के अनुयायी माने जायँ, तो जरूरी हो जाता है कि वे उनकी ज्योति से अपने जीवन को उजला भी करें।



अहिंसक आरम्भ

आज सवेरे ही अखबार में उधर यूनान के झगड़े की खबर छपी मिली। वहाँ लड़ाई की बात तो सब जानते हैं। वह मित्रों और शत्रुओं के बीच शुरू हुई। लेकिन यूनान के उत्पात में तो मित्रों के अपने बीच में ही शत्रुता फूट निकली दीखती है। उस खबर को पढ़कर मन सोचा कि अहिंसा को धर्म माननेवाले आप लोगों के साथ शुरू आज जिस अहिंसा की बात करनी है, वह क्या है? उसका हम विकट युद्ध से यूनान के झगड़े से संक्षेप में हमारी समूची स्थिति से कोई सीधा सम्बन्ध है कि नहीं? या कि वह एक आदर्श सिद्धान्त है जो तब लागू होगा जब हम मनुष्य देवता स्वरूप हो जायेंगे।

सचमुच जो काम की नहीं है, विचार का ही है, ऐसी वस्तु पर समय वह लगावे, जिसे काम न हो, फुरसत हो। फुरसत यहाँ किसे समझदार को रखती है। हर पल कीमती है। स्थिति का तकाजा रखना है कि जो रुका, वह गया। हर घड़ी चौकस और चौकन्ने रहने की जरूरत है। इस तरह अहिंसा यदि ऐसी चीज नहीं है जो हमारी और आपकी हर रोज की जिन्दगी को मदद दे और आगे बढ़ाये, तो समझदार होकर हम उस पर चर्चा करने में समय नहीं खोयेंगे।

लेकिन मैं अहिंसा को बात की नहीं काम की चीज मानता हूँ। जो बात की ही है वह अहिंसा हिंसा है। यानी विवाद और चर्चा से असली अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा परम धर्म है, जिसका मैं यही अभिप्राय लेता हूँ कि जीवन की हर स्थिति में अहिंसा लागू है। छोटे और बड़े के भेद से उसकी सत्यता में अन्तर नहीं आता। अहिंसा भाषा निर्भर नहीं

है, यह भाव म है। यह हृदय की चीज है। सच पूछिए तो अहिंसा की भाषा मौन है और उसकी अभिव्यक्ति शब्द से अधिक कर्म म है। अहिंसा की चरितार्थता के लिए किसी को विद्वान् होने की आवश्यकता नहीं है। सेवा भावी और उत्सर्गशील विद्वत्ता के बिना भी हुआ जा सकता है, और अहिंसा का सार यह सेवामय उत्सर्ग है।

वैयक्तिक धर्म के रूप म ही अहिंसा को विचारने और पालने से उस सम्बन्ध में कुछ भ्रम होता देखा जाता है। ऐसी अहिंसा वर्तमान को पुष्ट करती, किन्तु उसे भविष्य की दिशा म गति नहीं देती है। अभीष्ट शान्ति के मार्ग म इस तरह वह अवरोध बन जाती है। उसम असामाजिकता का तत्त्व आ जाता है। वह स्वार्थ पोषक बनी हुई देखी जाती है।

बेशक अहिंसा की एकांगी मान्यता में से यह दुष्फल फलित देखने म आता है। अध्यात्म धर्म आदि सभी के साथ भी ऐसा मनमाना व्यवहार हुआ है। पर यह तो मानव प्राणी का दोष है। जो हर शब्द को अपने प्रयोजन की नीचाई तक खींच लाता है।

पर कौन अपनी इकाई के रूप म पूर्ण है? कोई निज म स्वयं ही एक नहीं जनमता। जगत् में अवतीर्ण होने के साथ ही नाना सम्बन्धों से हम यहाँ के अनेक लोगों के साथ युक्त हो जाता है। व्यक्ति समाज का अंग है और अविभाज्य है। यहाँ तक कि मृत्यु के बाद भी स्मृति के रूप म वह शेष ही रहता है। महावीर, बुद्ध और दूसरे महापुरुष हम म होकर आज भी क्या जीवित नहीं हैं? और आनेवाली पीढ़ियों म भी क्या उनका प्रभाव व्याप्त होनेवाला है? इस तरह व्यक्ति का गुण-दोषमय चरित्र उसकी निज की चिंता का विषय ही नहीं, वह सामाजिक और सार्वजनिक चिंता का विषय भी होता है। निजता की सीमा कहीं है ही नहीं। इक्की-सी कंकरी से पानी में लहर का वृत्त फैलते फैलते जैसे जल तल की इयत्ता तक व्याप्त हो जाता है, उसी तरह व्यक्ति से आरम्भ हुई भावना भी उत्तरोत्तर व्याप्त होती जाती है। अनेक के बीच वह एक है सही, पर उसकी निजता अपने म उतनी ही सबल और सिद्ध होगी

प्रकट होती गयी है और आपसी झगड़ों के बीच में से मानव-जाति अधिक से-अधिक सम्मिलित होती चली आयी है।

आज यह बुद्धि से जानने की नहीं प्रत्यक्ष आँखों से दिखनेवाली बात है कि किसी की अपनी अलग स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज नहीं है। कोई देश अपने में एकांत स्वतन्त्र हो, इसका कोई अर्थ ही नहीं है। कोई अपने को घेर कर और उसमें बन्द होकर नहीं रह सकता। दोष के साथ लेन-देन, मिलने-जुलने, आने-जाने का सम्बन्ध उसके लिए अनिवार्य हो है। हमारे पुराने आत्म निर्भरता और स्वयं-पूर्णता के आदर्श जब विलीन हुए जा रहे हैं और इस प्रत्यक्ष सत्य से बचने का कोई उपाय नहीं रह रहा है कि सारी मनुष्य-जाति संयुक्त है और एक का भाग्य दूसरे के साथ जुड़ा हुआ है।

विकास के ठीक इस मुहाने पर हम आज हैं। हिन्दुस्तान के कभी मोर्चे पर लड़ाई इस वक्त नहीं है, और जहाँ है वह जगह हम से कई समन्दर पार है। लेकिन क्या अपने किसी भाग या किसी भाव में हम उसकी असर से बचे हुए हैं? हमारे चारों ओर मँहगाई है, चोर बाजार है नफा-खोरी और घूसखोरी है। नयी दिल्ली में शाम के समय हिन्दुस्तानी से ज्यादा इंग्लिस्तानी रौनक मालूम होती है। इंग्लिस्तानी भी क्यों, वह बाजार तो दुनिया के ही चौराहे जैसा मालूम होता है, कारण अमरीकन और दूसरे लोग भी वहाँ कम नहीं दिखते हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि यह विषम समय है जब कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न प्रवचन का, विचार का, अथवा नीतिवाद का ही नहीं रह गया है, बल्कि वह हमारे साँस लेने जितना आवश्यक, तात्कालिक और व्यावहारिक बन गया है। वह एक ही साथ आध्यात्मिक और भौतिक है। वह सब जीवन से सम्बन्ध रखता है। कल पर उसे टालना न हो पायगा। चाहे तो इसी क्षण उससे छुट्टी पा लें (यद्यपि छुट्टी सम्भव है नहीं) या फिर उस पर अमल करने लगने का ही निर्णय कर लें।

इतिहास में अनेक वर्ग और वाद हो गये हैं। वे भी विभिन्न स्तर

का कुछ नन्दर उन्न का स्वीकार किया है और वे जिन्होंने न रिक्षा के हित के लिए नीतिशास्त्र का प्रचार किया है। सब ने नाचार के निम्न के लिए किन्तु इन न मान लेकर किया है—चाहे वह आनन्दिक का इतर हो कि किन्तु उन इतर का मनुष्य मात्र है या फिर इन मन ले कि का तकनाल स्वीकरण ह— का अधिकतम हित, (Greatest g od of the greatest number) हो कि किन्तु अनुसार नीति उनके लाभ को पथ म मिला द—जा हो, किन्तु यह तो स्पष्ट हो है कि मन प्रकारान्तर से परस्पर स्पन के लिए अहिंसा का हा मान्य स्थान ह।

किन्तु जान पड़ता है कि नीति शास्त्र म अहिंसा की निरपवाद उ चौति का स्वीकार करके भी चलन म उसकी सगति बिठाना आसान नश है। उस पर बन्द दन से आदमी स्वना पारलौकिक हो जाता हुआ स्वा जाता है कि संसार के काम का नहीं रहता दूसरी ओर संसार म सायक होने के लिए माना अहिंसा को निगाह से ओझल रखना जरूरी करार दे लिया जाता है।

इस विरोध को तर्कवाद से नहीं भरा जा सकता, इस खाई को तो समन्वयशील साधना से ही भरना होगा। आज क्या हम कहने चल कि इंग्लैण्ड को हथियार डाल देने चाहिए, तभी उसकी जीत होगी? गांधीजी ने यह जरूर कहा। उनकी साधना अगम है और अधिकार अमित ह। पर इंग्लैण्ड के बस का यह कब हो सका कि वह उनकी सीख सुन ले? कारण, इंगलैण्ड अपने सदियों के संस्कार से क्षण म छुट्टी चाह कर भी छुट्टी पा कैसे सकता है! उस देश का लोक-मानस, उसका समाज, उसकी सरकार अपने संचित कर्म-दोष से मानो आत्मविरुद्ध वर्तन करने को लाचार ह। क्या सचमुच उस देश के अनेक मनीषी विद्वान्, जिन्ह भविष्य का संकेत प्राप्त है और जो भूत से पीड़ित नहीं ह, वैसी ही सलाह नहीं देते? पर बीज पकने बिना फल की कल्पना पर लाचार हुआ है?

अर्थात् व्यापक राजनीति में अहिंसा के प्रयोग का प्रश्न हम लोगों के लिए कल का ही है, यानी अनागत और अप्रस्तुत है, कि जिन्होंने अपने जीवन के मूल में उस अहिंसा को नहीं साधा है। लेकिन यों पूछिये तो राजनीति की स्वतन्त्र सत्ता ही क्या है? क्या राजनीति हमारे आपके सम्मिलित जीवन-व्यापार से ही स्वरूप नहीं पाती? राजनीति हमको लेकर ही बनती है। उसका अधिष्ठान जनता है, कि जिसके हम सब अंग हैं। इससे राजनीति का सार नागरिक-नीति (Civics) में है। और राजनीति शास्त्र मानव सम्बन्धों के नियमन का ही शास्त्र है।

इस पद्धति से आप देखेंगे कि अहिंसा के विचार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आत्मा, परमात्मा देश अथवा राष्ट्र से उतना नहीं है जितना कि इस बात से है कि हम और आप अपने पड़ोसी से, अथवा कि इतर जनों से किस प्रकार व्यवहार करते हैं। और इस दिशा में आप ध्यान देंगे तो तत्काल जीविका की, अर्थात् धनोपार्जन की विधि के प्रश्न से आपका विचार जा छुयेगा। और तब अपना वही पुराना सूत्र हम सब जान पायेंगे कि जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन आप देखेंगे कि आपको जीवित रहने के लिए भोजन की, वस्त्र की, और दूसरी जो आवश्यकताएँ हैं, वे सहज पूरी नहीं होती। उनके लिए कुछ 'करना' होता है। इसी का जीवनोपार्जन कहते हैं। यदि हम अहिंसा को व्यापक क्षेत्र में घटित करना हो, तो सबसे पूर्व इस जीविकोपार्जन की विधि में उस अहिंसा को चरितार्थ करने से आरम्भ करना होगा। मैं अपने लिए जिस ढंग से अन्न जुटाता हूँ उसमें अगर अहिंसा नहीं है, तो आगे फिर मेरे [illegible] अहिंसा की सफलता किस प्रकार हो सकती है?

अहिंसा की साधना को इस बिन्दु से हम आरम्भ करें तभी अहिं की ओर हमारी सच्ची परीक्षा है। उसमें स्पष्ट है कि हमको प्रचलित अ शास्त्र और समाज शास्त्र से प्रकाश प्राप्त नहीं होगा। बना-बनाया प दर्शन या विज्ञान हमारा हाथ नहीं थामेगा। उनकी बुनियाद ही दु टहरी न। इससे हमको अपनी श्रद्धा और श्रम से एक नये ही अर्थ शा

की नींव डालने और नयी अहिंसक समाज रचना के लिए तैयार हो जाना होगा।

और क्या आज के युद्ध ने युद्धोत्तर निर्माण के प्रश्न को अत्यन्त चिंतनीय नहीं बना दिया है? सचमुच वह प्रश्न जीवन मरण का है। विशाल योजनाएँ गर्भ में हैं, और उनके जन्म के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ की जा रही हैं। ऐसे समय सभी को सचेत रहना होगा और अपने भीतर टटोल कर तै कर लेना होगा कि हम क्या चाहते हैं।

मेरी धारणा है कि इस युद्ध के निमित्त से मानव-जाति ने काफी प्रायश्चित किया है। भगवान् करे कि ऐसा न हो कि अगले युद्ध के बीज अभी बो दिये जायँ। अपने बोये का फल हम ही काटना होगा। लेकिन इस युद्ध में हमने चख देखा है कि द्वेष और दमन के बीज की फसल कैसी कड़ुवी होती है।

हम में से प्रत्येक अपनी-अपनी जगह स्वाधीन है। वह अपनी निज की व्यासक्ति में आसपास शोषण के बीज बो सकता है अथवा कि सेवा कर्म द्वारा अहिंसा को जग में अपने जीवन को सींच सकता है। हर हालत में कर्म की गति अटल है। वह फल उससे भिन्न नहीं मिलने वाला है जो आज हम बोते हैं। इससे बाहर से समाज विधान या राज्य तंत्र के बदलने की प्रतीक्षा में रहना जरूरी नहीं है। भीतर से जीवन उगता हुआ आयगा, तो क्षीण बन गये हुए विधान और तंत्र तो उसके अभिनन्दन में आप ही गिर रहेंगे। लोक जीवन के जाग्रत तत्त्व के आगे तंत्र-व्यवस्था की शक्ति आप ही नत मस्तक हो रहेगी।



४

संस्कृति

संस्कृति की बात

संस्कृति पर आप से कुछ बात करने के लिए मैं आ तो गया हूँ पर समझ में नहीं आता कि शुरू कैसे करूँ। शब्द कुछ बारीक है और उस पर पूरी पकड़ नहीं बनती है। यों भी कामकाज से वह बाहर का मालूम होता है। जैसे विद्वानों का वह शब्द हो और लिखने-पढ़ने के प्रयोग में ही आता हो। आये दिन की जिन्दगी से जैसे उसका वास्ता न हो और जो सवाल हम और आप को मामूली तौर पर घेरे रहते हैं, संस्कृति उनसे कुछ दूर की चीज हो।

ऐसा मालूम होना अकारण भी नहीं है। संस्कृति शब्द सीधे-सादे रूप में कम ही बोलने में आता है, अधिकतर किसी न किसी विशेषण के साथ जुड़ा रहता है। कभी किसी देश के नाम के साथ, युग के साथ, जाति विशेष के या अमुक मतवाद के साथ। ऐसे अनेक संस्कृतियाँ बन आती हैं और हरएक पर विद्वान् लोग मेहनत करते हैं, उनका स्वरूप स्थिर करते हैं, लक्षण गिनाते हैं और उनके बारे में तरह-तरह के शोध में लगे रहते हैं। इस तरह प्रत्येक संस्कृति दूसरे से विशिष्ट बनती है और लोग उसकी विशिष्टता के प्रेमी और प्रचारक हो जाया करते हैं। वे उसकी खासियत को सबसे बढ़-चढ़ा बताते हैं और उस पर कुर्बान के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐसी संस्कृतियाँ आपस की खींचातानी में मैदान पर उतार दी जाती हैं और कलह-कोलाहल उपजाने के काम आती हैं।

कलह को हम संस्कृति तो नहीं कह सकते। कलह संस्कृति हो तो विकृति किसे कहेंगे? फिर भी देखने में आता है कि संस्कृतियों को लेकर विकृति का, यानी विग्रह का पोषण हो रहा है और आदमी अमुक संस्कृति के नाम पर अधम आचरण कर उठा है।

संस्कृति या तो धरती है और हममें से कोई उसके अधिकार से बच नहीं सकता। क्या यह सच नहीं है कि हम इन्सान हैं और जानवर नहीं हैं? सच, जो हमें नीचे पशुता में गिरने से रोकती है और मानवता में ऊपर उठाती है, वही मानव-संस्कृति होनी चाहिए। उससे अन्यथा जो हो, उसे विकार मान लेना चाहिए।

अब इस धरती पर मुट्ठीभर लोग तो नहीं बसे हैं। वे करोड़-पर करोड़ हैं और दूर-दूर देशों में फैले हुए हैं। उनमें कई भाषाएँ हैं और रहन-सहन के ढंग भी अलग हैं। पर उन सभी के लिए जरूरी रहा है कि वे एक-दूसरे के सहयोग में आयें, हिल-मिलकर पनपें और इस मेल-मेल और सहयोग-सहानुभूति का विस्तार करते जायें। भाषा और रीति-नीति की भिन्नता इस विकास में यों बाधक जान पड़ती है। पर सच्चा संस्कार उसे भी साधक बना लेता है। कारण, भेद में वह अभेद देख पाता है और इस तरह भेद के प्रति भी आदर और प्रीति रखता है। भेद तोड़ता नहीं, समन्वय और सामंजस्य साधता है। भिन्नता को देखते हम यह सकते हैं कि अमुक मानव-समुदाय की यह विशिष्ट संस्कृति है। पर स्पष्ट है कि अमुक संस्कृति की यह विशिष्टता रूप, स्वभाव और परिस्थिति के तल तक ही है। अन्दर से सबकी सार्थकता एक ही है, यानी आपसी सहयोग को उत्तरोत्तर व्यापक और घनिष्ठ बनाते जाना। पहरावे का भेद स्वस्थ मन में भेद नहीं डाल सकता। लेकिन अगर भेद पड़ता हो तो यही कहना होगा कि उसमें मन का अस्वास्थ्य कारण है और मानव प्रकृति पर किसी विकृति का आरोप और प्रकोप हो गया है। तब स्वास्थ्य लाभ के लिए उस रोग का निवारण जरूरी हो जाता है।

सहयोग की अनिवार्यता लेकर हम आदमी पैदा होते हैं। एकाकी कोई रह नहीं सकता। इकला होकर मरा ही जाता है। जीना तो संग-साथ ही हो सकता है। पर जब यह अनिवार्यता हमारे अन्दर है, तब उसको रोकने और इनकार करनेवाले तत्त्व भी हमारे अंदर हैं। इस तरह जीवन सरल नहीं, काफी उलझा हुआ तन्त्र है और संस्कृति का विकास अनिवार्य होकर भी सहज-साध्य

नहीं, अत्यन्त प्रयत्न-साध्य ही होता है। हम मनुष्य में पशुता के तत्त्व भी हैं और वे नीचे खींचते हैं। वे हमें एक-दूसरे की स्पर्द्धा और ईर्ष्या में लाते हैं। उनके वश होकर हम वैर विरोध ठानते हैं। उन्हीं के कारण दूसरे को हीन समझकर अपने को उच्च, उसको असम्मानित कर अपने को सम्मानित और उसको नष्ट कर अपने को पुष्ट करने की चेष्टा दीख पड़ती है।

समाज व्यक्ति के नाना प्रकार की वृत्तियों के तान-बान से मिल-जुलकर बनता है। अहंकार और तरह-तरह की लिप्सा आकांक्षा के वश होकर जो हम नाना व्यापार करते हैं, वे तो काले और जो सहानुभूति और विवेक की चेतना में से सधे साधन हैं वे धौले तार कहे जा सकते हैं। इन्हीं तागों से मिलकर समाज का पट बुनता है। धागे जितने धौले होंगे समाज उतना स्वच्छ और अच्छा होगा। उनमें जितनी कालिमा मिल जायगी, समाज उतना ही मैला और कलुषित बनेगा।

स्पष्ट है कि समाज की बनावट में व्यक्ति निमित्त है, पर अपना निजत्व में नहीं। अपने पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा वह निमित्त बनता है। असल में वह समाज-पट में तान और बान के जोड़ में बन गया हुआ केवल वह बिन्दु है जहाँ होकर पारस्परिकता के तार आपस में छिन्न-भिन्न और पार बने जाते हैं। अब ये तार वहाँ उलझ भी सकते हैं। इसलिए प्रश्न उतना व्यक्ति का नहीं है व्यक्ति पर बल या समाज का है। वह तो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच का, उस बीच के सम्बन्ध का है। उस सम्बन्ध के अभाव में व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव हो जाती है। इन सम्बन्धों की सुलझन से व्यक्ति सुलझा हुआ बनता है। उन सम्बन्धों की सघनता और पुष्टता व्यक्तित्व को सम्पन्न और सबल बनाती है। उनके अभाव से, या ह्रास हो तो व्यक्ति भी हीन, दुर्बल और दुबला होता है।

इस तरह समाज और व्यक्ति का अलग में विचार होना ही सम्भव नहीं है। समाज अव्यक्त है, व्यक्ति है व्यक्त। इसलिए उस अव्यक्त को छूने या समझने के लिए व्यक्त व्यक्ति से काम लेना है। समाज व्यक्ति के बिना एक भावना रह जाता है। व्यक्ति को जोड़ कर चलने से

समाज के साथ किसी प्रकार का सजीव सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति फिर भी होती है, यानी व्यक्ति को बिना ध्यान में लिये समाज का सुधार करने के प्रयत्न ठान लिये जाते हैं। स्पष्ट ही यह जरूरी है कि ऐसे प्रयत्न निष्फल जायें। इस तरह चलने से आन्दोलन अन्त में प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं और सुधार की कोशिश उल्टे बिगाड़ उपजा पड़ती है।

व्यक्ति और समाज, हमने देखा, दो नहीं हैं। फिर भी दो शब्द तो हैं और इसलिए उनके द्वैत को एकाएक हवा में नहीं उड़ाया जा सकता। तो कहिए कि एक ही वास्तविकता का यह तट व्यक्ति है, तो उसीका पार का किनारा समाज है। अब होता यह है कि उस जीवन की वास्तविकता के इस किनारे संत, महात्मा, कवि और आदर्शवादी अपने खीमे डालकर साधना साधते हैं, तो उस पार कामकाजी लोग वाणिज्य और राजनीतिक अपने-अपने पक्के गढ़ बाँधकर बस जाते हैं। इधर वे जो व्यक्ति की भाषा में पूर्णता के आदर्श को देखते हैं और ईश्वर को भजते हैं, उधर वे जो दल बाँधकर समग्रता को, यानी स्टेट को सामने रखकर सम्प्रयोजन उपार्जन करते हुए सामर्थ्य सम्पादन करना चाहते हैं। इस तरह एक तरफ आध्यात्मिकता है, जिसमें आदमी कपड़ा तक छोड़ बैठता है, दूसरी ओर पदार्थवादिता है, जहाँ सब बटोरकर भी तृष्णा समाप्त नहीं होती।

तब संस्कृति की बात करते समय न आध्यात्मिक आत्मा की, न सामाजिक विज्ञान की पड़ताल जरूरी है। इधर या उधर खूँटे गाड़कर और जुड़ जी मरें, संस्कृति इस तरह नहीं जी सकती। दोनों किनारों के बीच, उन दोनों को छूती हुई, दोनों को समझती हुई, उन दोनों तक अपना चैतन्य और परस्पर का क्षेम पहुँचाती हुई, संस्कृति ऐसे बहती है कि प्रयोजनवादियों का प्रयोजन भी नष्ट न हो और आत्म का आनन्द भी सतत वर्तमान रहे।

साफ है कि इन दो किनारों पर बसनेवालों का निपट द्वैत, उनके बीच का उभार और विग्रह सबके लिए आग का कारण बनता आया

है। ...उ अनन्त उड भर ...पता है। उसम सुस चन ...नाग ... अ
...चैना पत्वी गयी है। ...गी है कि ...र प्रवाह सूरन न पार ... गण
गाने पाव ...ना दानों तग को हरियाला ...र सकता ...।

...न क्...स्...क ...ा... है। कुछ ...नम गामिक ... कुछ लाकिक।
गामक स्वभाव ...न—इसगाम इसा...न गाड ...न, हिन्...। लानिक
...नमे—लोभाजनाव ... माम्यवाद ... हानापकारवाद ... बहुमतवाद ... गदि।
...ाद को हिन्दी म कह ...ात। लेकिन मबाद बात का नहा है काम का है।
बात का मना ता ...ाव तक ही है। इस ...पन आप म काई ...ाद गन्त
...ग मश ना नहीं ...। बात का परग दाम म है। जा सच्चा सच्चा
...ार सच्चा बरतता है ...सीकी बात सच्चा मानी जाती है। ...ात्मा सच्
...सच्चा ...ार सही हाकर ...पनी बात का भी सच्ची ...ार सही बनाता है।
...यहा नियम व्यक्ति स ...ागे सामूहिक बाता पर लाग मानना चाहिए।
...ाद ...ा... ...ाद सभी ठीक है। उस बार म झगड़न का सवा... संस्कृति क
...ा संस्कारा ...ादमी क लिए उठता हा नहा है। मुसल्मान का इस्लाम
...नुसारक ...र सनातनी का सनातन धम। इसी तरह समाजवादी क लिए
...पने ...ाद ...ार गाधीवादी ...र साम्यवादी क लिए ...पने-अपने वाद
की जा चाहन ...ार उन्ह धन्य मानन का स्वतन्त्रता है। पर संस्कृति का
माग से किसी का छुट्टी नहा हा सकती। सबका ...पन हान ...ार ...न क
...ाद का ...न्नति का प्रमाण पर पेश दिखाना हागा। कारण इसम
हर क...ा... ...ान है ...ार हरएक नागरिक भी है। हमारा जमात भी
...आखिर हमारी, यानी ...गाना की है ...ार समूची मानव-जाति का ...ग
...। ...क ...वाद ...ा ...र, या किसी भी दूसर ...हान का ...र क्या
...ाच ...ा ...ा ...र्मी हा सकती है कि ...वह ...ात्मियत स हाथ धा
...? ...न, कभी नहीं हा सकती। संस्कृति का यश ...थ है। उसका यह
...सरा... ...ार अधिकार है कि वह मनुष्य म स मनुष्यता हा मात हाने द ...ार
...मनाव... ...न स्वधम की राह पर बराबर ...गिग ...र, गिरन न ...।

☆

२

संस्कृति और विकृति

संस्कृति का शब्द बहुत तरह से उठाया जा रहा है। कुछ लोग उसकी बात मन से भी करते होंगे पर अधिक, जान पड़ता है, मुँह से करते हैं। मुँह से कहने का मतलब यह नहीं कि किसी तरह का मायाचार करते हैं। मतलब यही कि शहर में वे मानते हैं कि संस्कृति बाद की बात है, पहली नहीं है। ऊपर की चीज है, मूल की नहीं है। वह बहुत कुछ अतिरिक्त वस्तु है, जैसे मूलधन का ब्याज। इसलिए जरूरत की नहीं जितनी शोभा की वस्तु है। विलास का बुरा अर्थ में न लें, तो उसमें विलास अधिक है, आवश्यकता कम।

इस मन्तव्य के लोग अधिकांश मानव जाति के जिम्मेदार शासक और व्यवस्थापक वर्ग के हैं। उन पर दायित्व का भार है और वे प्रत्यक्ष कर्तव्य से हटकर परोक्ष कल्पना में भटक नहीं सकते हैं। वे प्रकट देखते हैं कि पहली आवश्यकता रहन-खान-पहनन की है। उसके बाद आवश्यकता अच्छे खाने, अच्छे रहने और अच्छा पहनने की है। बात स्थिर रहने से आगे बढ़कर बढ़िया रहने की हो जाती है तभी वह संस्कृति कहलाती है। इसलिए संस्कृति का मान है 'जीवन स्तर'। एक सौ रुपया माहवार खर्च में रहता है, दूसरे को पाँच सौ लगते हैं, तीसरे को हजार आवश्यक होते हैं। इन तीनों में संस्कारिता की क्रमशः उत्तरोत्तर उत्तमता मानी जा सकती है। इस तरह संस्कृति के प्रश्न का निदान है [illegible] उत्पादन और धन-धान्य उपार्जन। अधिक सुविधा, अर्थात् अधिक सभ्यता।

वे दायित्वशील जन, जो सुविधा में रहते इससे सुविधा उपार्जन में भी रहते हैं, मानते हैं कि समस्या का रूप सांस्कृतिक न होकर भौतिक है।

लोगों को आवश्यक पदार्थ चाहिए, इसलिए उनका प्रधान उत्पादन और समीचीन वितरण चाहिए। उसके लिए फिर उचित व्यवस्था और यन्त्र चाहिए। इस सबके लिए यत्न अर्थात् संघर्ष करना होता है। जीविका सहज नहीं है। प्रकृति के और परिस्थिति के साथ वह एक युद्ध है। जीविका के लिए जूझना पड़ता है। इसलिए प्रश्न मूलतः आर्थिक है, यानी जीवन-मान आर्थिक है और मनुष्य आर्थिक प्राणी है।

ये लोग संस्कृति के निस्सार करार के समर्थक और अभिमानी हैं। जानते हैं कि आर्थिक रचना में से ही संस्कृति का उद्गम हो सकता है। इसलिए बात चाहे संस्कृति की करें, काम अर्थ का करते हैं। मेरा मानना है कि वे भूलते हैं। समस्या रहने-खाने पहनने की नहीं है, इन्सान के लिए यह इन्सान होने की है। जानवर रहता और खाता है। जंगली भी कुछ न-कुछ पहनता है। जो वस्त्र नहीं जानते उन्हें प्रकृति छाल-खाल-बाल पहनाती है। रहना-खाना हमारे होने की शर्त है। समस्या यह न थी, न होनी चाहिए। असल में समस्या यह है कि ... है, ... है। फिर होने में ही गाभत है कि रहने को रहा जाता है और खाने को खाया जाता है। समस्या का आरम्भ होता है हमारे इन्सान होने से और हमारे उत्तरोत्तर और सच्चे इन्सान बनने की ओर उस समस्या का उत्कर्ष जाना है।

भूख का समाधान है खा लेना। भूख लगी, शिकार निकला, शिकार मारा और खाकर आराम से सो गया। भूख आदमी की समस्या नहीं हो सकती, क्योंकि भूख का सीधा सम्बन्ध खाने से है। यह सम्बन्ध मनुष्य के लिए उतना सीधा नहीं रह जाता, इसका कारण उसकी मनुष्यता ही है। बीच में से मनुष्यता को हटाकर समस्या की एकदम समाप्ति हम पा जाते हैं। पर वैसा नहीं हो सकता। इन्सान चाहकर भी इन्सानियत खो नहीं सकता। इसलिए प्रश्न भूख नहीं, इन्सानियत है।

... का मूल प्रश्न या शरीर की साधी आवश्यकता की भाषा में ..., वे प्रश्न को किसी तरह भी सुलझा नहीं सकते। कारण, वे उस ... । जिनमें अपनी मनुष्यता के ... भूख को ... लिया ... न करना

भूख को मिटाया किन्तु अपनी अनिवार्य इन्सानी हैसियत के लिए उसने बड़ी आफत मोल ले ली। चोरी, ठगी, डकैती धोखा-दही वगैरह भूख का सीधा नतीजा हो सकता है, लेकिन समस्या उससे मिटती नहीं और बनती है।

यह सब कि आदमी पहले शरीर है, मन है। अब तक कोई आदमी मैंने नहीं देखा, जो शरीर पर समाप्त हो। जघन्य से जघन्य अपराधी भावना से मुक्त नहीं होता। भावना, यानी मन की भूख। तन की भूख तो घास से भी आदमी शान्त कर लेगा, लेकिन मन का अपमान उससे नहीं सहा जायगा। कहाँ ऐसे उदाहरण नहीं हैं, जहाँ खुशी से लोगों ने भूख सही है, अपमान नहीं सहे हैं। भूख वह गहरी है, वह असली है। और समस्या यहाँ है।

इन्सान को शरीर की भाषा पर उतारकर उसकी समस्याओं का निपटारा करवाना बेकार है। इन्सान को न समझने से ऐसी कोशिश का आरम्भ होता है। सहानुभूति का उसमें अभाव होता है। इससे जितनी ही यह चेष्टा वैज्ञानिक होती है, उतनी ही व्यर्थ होती है।

आश्चर्य कि मैं उनसे सम्मत नहीं हो पाता हूँ, जो संस्कृति को दूर की, ऊपर की, कोई अन्य वस्तु मानकर सन्तोष मानते हैं और दुनियादारी में ही उसे नहीं लेना चाहते।

संस्कृति जो भीतर रहा है, शिखर पर है एवं गाम्भीर्य है। राजनीति जो संस्कृति को साध्य के रूप में आगे रखकर साधन के रूप में साथ नहीं रखती है, भ्रम और प्रपञ्च ही उत्पन्न कर सकती है।

संस्कृति एक रुझान है, एक वृत्ति, जिसको स्वीकार हम नहीं करते तो आवश्यक अर्थ होता है कि विकृति को हम स्वीकार करते हैं।

या तो विवेकपूर्वक संस्कार की ओर हम बढ़ते हैं, नहीं तो रागपूर्वक विकार की ओर हटते हैं। ठहरने की स्थिति इस जगत् में नहीं है। बढ़ना नहीं, तो गिरना हमारे लिए लाजमी है। उन्नति का अभाव अवनति है। जीवन सतत गतिशील है। संस्कृति की ओर है, वह प्रगति

अन्यथा अवगति है, जो विकार में से आती और विकृति में पहुँचाती है।

संस्कृति, जो विभाजनों और विषमता की वस्तु है, अनन्त शाखा-रूप है। वहाँ मूलाधिष्ठान पाना कठिन होता है। सुनाते ऐसी विविध संस्कृतियाँ आपस में द्वन्द्व मचाती देखी जाती हैं। ऐसा ही नहीं कि आँधी में शाखाएँ आपस में उलझा करती हैं। आँधी में पवन का अभिषेक समझकर, तो शाखाओं के लिए यह कठिन नहीं है कि अपनी धमाचौकड़ी में वृक्ष के मूल स्कन्ध से अपने सम्बन्ध सम्पर्क को वे भूल जायँ, भूल चाहे जायँ, पर उनकी स्थिति का आधार वही है। उस आधार से ही कहीं वे टूटीं, तो उन्हें धूल पर पड़ा रहना पड़ेगा। फिर हरियाली के बदले में सूखकर उनके ईंधन बनने में देर न लगेगी।

संस्कृति और धर्म परस्पर विलग तत्त्व हैं। हाल की ही बात है कि यहाँ दिन-दहाड़े कत्ल हो रहे थे और खून मानो उफान खा रहा था। एक ओर से 'अल्ला हो-अकबर' का नारा उठता था तो दूसरी तरफ से 'हर-हर महादेव' का निनाद। यह पराक्रम पुरुष का पुरुषार्थ न था, उसकी विकलता थी। दोनों तरफ धर्म लगा था। 'अल्ला हो-अकबर' और 'हर-हर महादेव' पवित्र-से-पवित्र उच्चार हैं लेकिन धरती पर चलकर एक शैतानी तमाशे के सिवा वे कुछ नहीं रह जाते। तब वे उन्मादित के विकार की धारणा हो जाते हैं।

'अपनी' संस्कृति का रूप—यह भाव ही मिथ्या है। इसमें 'पराई' संस्कृति की अवज्ञा समायी ही है। जहाँ अपनी पराई संज्ञाओं के प्रयोग में यह अभिमान एवं अपमान का भाव आ जाता है, वहाँ स्व-पर की भाषा और स्व-पर का बोध भ्रान्त मानना चाहिए। यह आत्म-बोध में साधक नहीं, बाधक होना है। अभेद की भूमि पर भेद स्वयं स्वीकरणीय और आदरणीय बनता है। लेकिन भेद जो मूल में अभेद को खोकर चले, निरा शून्यता है। ऐसा ही धर्म से उपहास्य वस्तु दूसरी नहीं और घातक है, जो अपने सिवा सब को अस्वस्थ गिनता है। तब संस्कृति का रूप है विकार, विकृति।

हम अहन्ता लेकर जीते हैं। जो हमको एक ओर इकट्ठा रखता है, वह हमारी अहन्ता ही है। किन्तु उस अहन्ता को व्यक्तित्व गिनना भूल होगी। अहन्ता यद्यपि होने की भूमि है, पर वही होने की व्याधि भी है। इसी से बार-बार होना, जिसे धार्मिक भव-बाधा या आवागमन कहते हैं, कुछ उपादेय नहीं समझा जाता है। मुक्ति इस होने, यानी होते रहने में मुक्ति है। आवागमन से निकलकर फिर क्या होगा। यह प्रश्न प्रस्तुत नहीं है। सार बस इतने में ही है कि स्वयं होकर होने में मुक्ति नहीं है, पूर्णता नहीं है, प्रत्युत निरन्तर बंधन का सार है। अर्थात् अस्मिता द्वारा हम जीते हैं, तो भी उससे अधिकाधिक छूटते जाना उत्तरोत्तर सच्चा जीते जाना है। अपने को याद रखे रहना सबसे बड़ा दुःख है, भूल जाना सुख। जो जितना ही कम 'अस्मित्व' है, वह उतना ही महान 'अस्तित्व' है। व्यक्तित्व (या अस्तित्व) सम्पादन के लिए 'अस्मित्व' का आग्रह नहीं, उत्सर्ग चाहिए। इसी से देखते हैं कि जो आगे बढ़कर मरता है, वह अमर बनता है। यानी जीने की कला, उसकी कुंजी मरने की शिक्षा और साधना में है। इस बात को समझ लो तो सम्पूर्ण संस्कृति का सार मिल जाता है।

हम अपने को जगत् का केन्द्र मानकर जीते हैं, यह है विकृति।

हम जगत् में शून्य भाव से जियें, यह होगी संस्कृति।

अहन्ता से शून्यता की ओर जाना विकार से संस्कार की ओर उठना है।

ऊपर की बात को तात्त्विक से व्यावहारिक बनाकर लिया जाए। उसे मानव-समस्या पर घटित कर देखा जाए, तो जो मेरे लिए सामने का व्यक्ति प्रधान और मैं स्वयं उसकी अपेक्षा में गौण बनता हूँ यानी उसे आदर देता हूँ, चाहे उधर से अपमान ही पा रहा होऊँ; चाहे मैं उसका लाभ प्रथम देखता हूँ और अपने लिए यथावश्यक पर सन्तोष करता हूँ उसको सुख देकर अपने दुःख को भूल जाता हूँ; संक्षेप में उसके कल्याण में स्वयं काम आता हूँ—तो यह संस्कृति की दिशा की यात्रा है। इस

तरह की प्रवृत्ति से समस्याओं का घटाटोप उठेगा (क्योंकि समस्या निबटने के लिए नहीं है, केवल उलझते जाने के लिए है) बन्धन टूटेंगे और जो विष मानव-सम्बन्धों को कुटिल और कठिन बनाये रखता है और मद-मत्सर, ईर्ष्या-लालसा और द्वेष-दुर्भाव पैदा करके बौद्धिक से मारक-दर्शन और वैज्ञानिक से संहारक शस्त्रास्त्र का आविष्कार कर जाता है—वह विष कटेगा। स्नेह की तृष्णा उसमें दूर होगी और सहानुभूति का प्रकृत प्रभाव खुलेगा।

दूसरे सिद्धान्त से हम सामनेवाले को अपने स्नेह के बजाय स्वार्थ का उपादान बना सकते हैं। तब हम अपने को उसके लिए नहीं, उसे अपने लिए मानेंगे—अर्थात् उससे अपना प्रयोजन साधने का सदा और प्रमुख ध्यान रखेंगे। अपने लाभ को इतना रखेंगे कि उसको ठगने से नहीं कतरायेंगे। स्वयं उसमें से अपना सुख निकाल लेंगे, चाहे फिर उसके भाग में दुःख ही रह जाय। अपने सम्मान की भरपूर चिन्ता रखेंगे, फिर चाहे हमसे किसी का भी अपमान होता रहे। अपने लिए फल रखेंगे और दूसरे के लिए छिलके और दूसरे का आधा दाम, अपने को प्राप्ति। तो जीवन की यह पद्धति दूसरी दिशा की ओर ले जाती है। मैं मानता हूँ कि इस दिशा की प्रवृत्ति निश्चित रूप से संघर्ष को और विकट करनेवाली है। वह शोषण की है, हिंसा की है। अब दीखने वाले काम धाम—उपकार, सुधार, व्यापार, शासन, व्यवस्था, सभा संगठन, समाज-साधना आदि सब तरह के सब काम—ऊपर की दोनों वृत्तियों से किये और चलाये जा सकते हैं। पहली अवस्था में ही वे साधक हो सकते हैं, अन्यथा वे सब बाधक और बन्धनकारक होनेवाले हैं।

संस्कृति का अतः बाह्य कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। काम की मात्रा या उस प्रकार की आग्रह आकांक्षा विकार का लक्षण मानी जा सकती है। कर्म रचनात्मक यह है, जो संस्कृति निष्ठ, यानी अहिंसक प्रेरणा में से आता है। कर्म में संस्कृति या अहिंसा नहीं है, संस्कृति में से कर्म का होना है, अर्थात्, धर्मपूर्वक कर्म।

शब्द और हों, भाव यही था। अर्थात् जात पाँत के प्रहार जीवन पर तो राज और राजनीति का क्या होगा? सब तीन-तेरह हो न हो जायगा? और, ऐहिक (सेकुलर) स्टेट के लिए जो आर्थिक प्रोग्राम करनेवाली पार्टियाँ होंगी, उनको कहाँ मौका रह जायगा? यों भारत में ऐहिक लोक-राज्य (डमोक्रेटिक सेकुलर स्टेट) फिर कैसे बन पायगा? इसमें तो सन्देह नहीं कि साम्प्रदायिकता संकट है। उत्कट होने पर उसके अन्दर की नफरत बाहर रिवाल्वर लेकर बढ़ती है और हत्या को राजनीतिक प्रगति का साधक उपाय ठहराती है। इस तरह हिंसा एक पद्धति बनती है और उसका उपयोग बहादुरी का लक्षण। सम्प्रदायों के पृथग्भाव में से फिर और छोटे-मोटे वर्गों की पृथकता निकलती है और वे स्वार्थ के आधार पर अपने दल बाँधते और नारे उठाते हैं। यों जीवन लचनुच छिन्न भिन्न हो जाता और समाज एक जंगल बन जाता है।

साम्प्रदायिकता की तरफ का संकट बेशक छोटा नहीं है। किन्तु शायद वह असली संकट नहीं है। वह तो निशान नहीं है, निशान भर है। इसलिए जो आन्तरिक है, जो मूलभूत है, शायद असली है वह संकट चिन्तनीय होना चाहिए। पूरे निदान और इलाज के लिए उसे पाना होगा।

अर्थात् साम्प्रदायिकता की ओर से जो गहरा प्रहार संस्कृति के प्रतीक गांधीजी की हत्या के रूप में हुआ, संस्कृति की दृष्टि से वह संकट हो सकता है। पर संस्कृति की ओर से परीक्षा इसमें है कि उस प्रहार का उत्तर कैसे दिया जाता है। मेरे अपने संस्कृति का प्रश्न नीचे की जगह विचारणीय है।

संगठित धर्म, यानी सम्प्रदाय। उसके मुकाबले संगठित राजनीति यानी पार्टी अथवा दल। जैसे सम्प्रदाय वैसे दल भी ऊपरी प्रचार द्वारा अपनी इच्छा का सुधार या परिवर्तन लाने में विश्वास पर चलते हैं। प्रश्न है कि क्या एक का प्रहार संस्कृति पर संकट, और प्रत्युत्तर में दूसरा

ऊपर की बात सैद्धान्तिक और व्यवहार से अछूती लग सकती है, लेकिन संस्कृति के संकट का यदि प्रश्न है तो यह नितान्त विचारणीय है। बल्कि यही एक बात विचारणीय है।

दल धार्मिक मतवादों को ऊपर उठाकर खुद रुकते हैं, जैसे भारत में हुआ है। इसी धर्मवाद के आधार पर यहाँ विभाजन हुआ और पाकिस्तान बन गया। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सदा एकराष्ट्र का सिद्धान्त माना था, लेकिन नीचे व्यवहार दुई की भावना लेकर चला, और कौमें दो होकर दो हुकूमत की बनी ही। सदियों से हिन्दुस्तान में बसनेवाले उन लोगों के बीच एकट्ठापन बढ़ता चला आ रहा था, वह अनिवार्य ही था, कि अंग्रेजों के आने से यह काम रुक गया। अंग्रेज उनके बीच मुखिया बनकर आ और हिन्दू-मुसलमान की हैसियत जो बराबर कम होती जाने को लाचार थी उस अंग्रेज के सहारे खड़ी ही बनी रही। फिर भी यह परायापन ऊपरी था, वहाँ तक जहाँ तक राजनीति की पहुँच थी। धरती से और मेहनत से लगकर रहनेवाला औसत इन्सान, हिन्दू या मुसलमान, मिल-जुलकर रहता था। इन दोनों के दरमियान हर तरह का लेन-देन का रिश्ता था। हाट-बाट किस्से गुद मजबूत थे उस रिश्ते के। यानी तरह-तरह के रीति नीति थे, मेल-व्यवहार थे जिनसे सारा हिन्दुस्तान एक तरह की हिन्दुस्तानियत में मिलता जा रहा था। अंग्रेज के जाते-जाते हिन्दुस्तान के टुकड़े जो हुए, वो यह सदियों से चली आती हुई कुदरत की धारा के खिलाफ काम था। हुकूमत में और रियासत में रहनेवालों के दिमाग में इस दुई के आगे और हिमायती हो भी गए हों, मुल्क का दिल इसके लिए तैयार न था। यहाँ से जो गुस्सा और तनाव, मुसीबत और तबाही पैदा हुई उसे कौन नहीं जानता। यह संस्कृति के खिलाफ काम था, जो संस्कृति सिवा इन्सानियत के टूट नहीं सकती और जिसकी टेक पर जात-पाँति का मिटाना होगा। इस कसौटी पर रियासतें और हुकूमत तौली जायँगी और फेंक दी जायँगी। यही इतिहास के लिए कसौटी बनेगी और सब राजनीतियों का फैसला करेगी। हिन्दुस्तान में धर्म के आधार

अन्दर लेकर चलनेवाली भारतीय संस्कृति गांधीजी के साथ पूरी तरह मान्य और प्रतिष्ठित हुई। कारण, उन्होंने वैर की राजनीति के बीच निर्वैर की धर्मनीति को प्रतिष्ठित किया।

क्या हम मानें कि हिंसा जीती, गांधीजी हारे! गांधीजी की मृत्यु इसका जवाब है। वह मृत्यु उनके लिए अमरता की मुहर बनी है। और इससे बड़ी पराजय हिंसा के लिए दूसरी हो नहीं सकती।

तो संस्कृति का सवाल इस जगह है कि हम घृणा को, द्वेष को कैसे जीतें? अपने से बाहर के द्वेष और घृणा को अपने अन्दर की निर्वैरता में पचाय देनेवाले हम नहीं हैं, और एक तरह से घर से ही उसे काटने चलते हैं, तो यह संस्कारिता की हार और विकार और संहार की जीत है।

सचमुच गांधीजी के बाद भारत कसौटी पर है। उनके उत्तराधिकारी और उनके नाम में स्मृति और सहारा लेनेवाली राजनीतिक पार्टियाँ मान लें कि उनकी परीक्षा है। गांधीजी की टेक थी कि हुकूमत चाहे वह हो गयी हो, हिन्दुस्तान के दिल वह नहीं हो गये हैं। कांग्रेस के द्वारा संस्कृति की सेवा या रक्षा होनी है, तो उसको वह बनना होगा जो हिन्दुस्तान के समूचे संयुक्त हृदय की प्रतिध्वनि दे। उसमें सब के लिए समाई हो। अहंकार में अपने को इतना सही माननेवाले हो सकते हैं कि जिन्हें सत्ता हथियाना इतना जरूरी मालूम हो कि अपनी राह में विघ्न को दिया दूर करना वे पुण्यकर्म गिनें। उनका इलाज हुकूमत जाने करे। यों हर मत और हर व्यक्ति को होने का और अपना मान रखने का अधिकार है और हर संस्था अपने तई में स्वाधीन है। इस तरह इन सबमें का अपना सार समझना के लिए अहिंसा को जान और मान लेना है।

किन्तु व्यवहार की राजनीति का तर्क अपना है। वह शक्ति का तर्क है। विचार और व्यक्ति तात्कालिक शक्ति की अपेक्षा में ही वहाँ विचार णीय बनते हैं। वह दलबद्ध प्रवृत्ति है। दलों में का अपना हिसाब किताबी और उनके बीच जय-पराजय की युक्तियाँ रहेंगी। अमुक दृष्टिकोण उनके लिए अमुक वर्ग या दल या मिजाज का आगर ही बन

ऱ्याल डालगी। यह व्यावहारिक राजनीति, पावर-पालिटिक्स पहले तो भारत का ही भला नहीं साध सकती, फिर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का मेल, जो कि असली और दिली समस्या है, वह तो उसके गुमान में भी आ नहीं सकता है।

राजकीय समस्या भारत की अलग दल ली जाय, किन्तु सांस्कृतिक समस्या उस तरह पाकिस्तान को और फलत मुसलमान को अलग करार दे आधा मानकर चैन नहीं पा सकती। यहां संस्कृति का निखिलिए और समग्र भाव में लिया है। खंडित और सीमित और नामधारी संस्कृति, जो स्थान से अधिक विद्वान की है, उसकी चर्चा यहां नहीं है।

गांधीजी ने भारत की राष्ट्रीयता को उस बुनियाद पर रखा जहां जाति धर्म और वर्ण आदि भेदों का महत्व नहीं है। वहाँ सब समान हैं और सब के लिए समान है। धर्म के विविध रूपों अथवा शरीरों की रक्षा करते हुए उसकी अखण्डता, उसकी आत्मा की एकता को उन्होंने जगाया और उसने उसको पुकार दी।

ईश्वर अल्लाह तेरे नाम

हिन्दू-मुसलमान की, कांग्रेस कम्युनिस्ट की मरा-तेरी यदि यह ललकार थी कि हिन्दुस्तान (का राज) तेरा नहीं मेरा है, तो गांधी ने कहा कि हिन्दुस्तान के मालिक तो वे हैं जो धरती में पसीना डालते और वहाँ से सब के लिए अन्न उगाते हैं। वे सब उत्पादन का अपना भाग मानकर बाकी राज्य चलाने का काम चलाने के लिए छोड़ देते हैं। इसलिए हिन्दुस्तान किसी का है तो उनका है जो इन मूक मेहनती जनता का अकिंचन सेवक है, जो यह सेवा मानो प्रायश्चित्त की भावना से करता है। इसी तरह धर्म के मामले में ईश्वर और अल्लाह को एक पुकार में मिला कर उन्होंने बता दिया कि भगवान् किसी का नहीं है सबका है। और जो अपनी कुरबानी देता है उस पाता है।

कहने में संस्कृति का संकट किसी दल अथवा मत से नहीं हो सकता, क्योंकि वह वस्तु दलगत या मतवादी है ही नहीं। जिन्दगी की प्रवृत्ति

आर्थिक योजनाओं के अधीन चले, आर्थिक व राजनीतिक दृष्टिकोण न चले, या फिर कोई अपने किसी दूसरे दृष्टि-बिन्दु से या दूसरे कायदे से चलाये—उस सब के सम्बन्ध में संस्कृति का कुछ मतामत नहीं है। आदमी का आदमी पर प्रहार न हो, दबाव न हो, असम्मान न हो बल्कि हर दो के बीच सहानुभूति, सम्मान और सहयोग का सम्बन्ध हो, हर का पड़ोसी भाईचारा रखे और सम्बन्ध सहकार के आधार पर हो, समान स्वेच्छित सहयोग पर बने और व्यक्तित्व की निजता को अवसर और अवकाश हो—ये संस्कृति की आवश्यकताएँ और लक्षण हैं। बेशक हर एक की निजता अलग और अनोखी होने के कारण समस्याएँ होंगी और संघर्ष होंगे, लेकिन यदि उन संघर्षों में भी सद्भाव रह सका तो जिन्दगी को और भरापूरा, विविध और सुन्दर बनानेवाले वे होंगे। इस तरह मत भेद बड़ी पवित्र और मूल्यवान वस्तु होगी, क्योंकि वह अपनी-अपनी ईमानदारी की पहचान होगी। हरेक का व्यक्तित्व अपने में कुछ और इस लिए किसी कदर दूसरे से भिन्न होगा, तभी परस्पर सहयोग और सत्कार कीमती भी हो सकेगा। और तभी समानता केवल संख्या की और बोर की, भीड़ की चीज न रहेगी, बल्कि वह होगी जो कि होनी चाहिए। यानी प्रत्येक की स्वाधीन चेतना का वह फल होगी और उसकी आधार शुद्ध विवेक की यानी मुक्त मानवता की होगी।



लेकिन मैं जानता हूँ कि प्रश्न व्यक्तिगत नहीं है, पारिवारिक भी नहीं है। इस पद्धति से समस्या अपना-अपना होकर तो प्रश्न बिगड़ जाता है और शायद तब गँभीला भी वह उतना नहीं रहता। पर नहीं, प्रश्न का वह रूप निर्वैयक्तिक नहीं है। निर्वैयक्तिक हो वैज्ञानिक होता है। अतः मोर्चा असल वह है जो निर्वैयक्तिक है, सामाजिक है, सार्वजनिक है। इस लिए वह राजनीतिक और वास्तविक है।

निस्संदेह दिमाग पर जहाँ तक ध्यान में जोर पड़ता है वहाँ रोटी का मोर्चा इस कदर क्रांतिकारी है कि स्थूल रोटी का वास्ता उससे नहीं रहता, खालिस मोर्चा ही मोर्चा रह जाता है। जान पड़ता है रोटी से वह महत्त्वपूर्ण है।

उस रोटी को जानना आसान है जो गेहूँ से बनती है, बनाने में जिसमें तरह-तरह की मेहनत लगती है और जो भूख भरती है। पर वह रोटी, जिसका सम्बन्ध न तो गेहूँ से है, न श्रम से है, बल्कि सीधा सम्बन्ध क्रांति से और मोर्चे से है, इतनी गहन और सूक्ष्म हो जाती है कि उसे मुट्ठी में लेना और पेट में डालना सम्भव नहीं हो पाता। वह दिमाग की चीज मालूम होती है। अगर वह किसी की भूख मिटाती या बढ़ाती है तो शायद दिमागवाले के दिमाग की ही।

रोटी का मोर्चा इस तरह उनका नहीं मालूम होता जो पेट के भूखे हैं, वह उनका है जो भूखे दिमाग के हैं। वह मोर्चा दिमागियों का है।

एक मन्दिर के द्वार पर अक्सर देखते हैं कि भुखमरों की पाँत लगी है। भूखों की पाँत में होना छोटी बात नहीं है। उनके लिए भीख और भूख ही महत्त्व है। लेकिन वह लाला जो गिनती की रोटी लाते हैं और गिन गिनकर ही उन्हें देते हैं, हो-हल्ला पसन्द नहीं करते, तरतीब पसन्द करते हैं। इसलिए एक को एक ही रोटी मिले, यह सुभीता अपनी ओर से लालाजी का रहने के लिए भुखमरों ने पाँत बाँधना सीख लिया है। जब तक पाँत है तब तक शायद मोर्चे का पूरा मजा इसका उस दृश्य में नहीं दीखेगा। पर जब यह पाँत टूट जाती है और छीना-झपटी चल

असम्भव कार्य नहीं है। इस पद्धति से एक दिन श्रमिक के सिर पर प्रभु बनकर बैठने की तरकीब निकल आ सकती है। बौद्धिक बनकर, बुद्धि पैनाकर वह इतना भी नहीं कर सका, तो उससे और क्या आशा की जा सकती है! नहीं, वह प्रचार करेगा, संगठन करेगा और क्रांति करके ही छोड़ेगा—क्रांति कि जिसमें आज का बड़ा आदमी पामाल होगा और जनता के भूख के मोर्चे पर झण्डा लेकर, घोष करकर, ऊँचा उठनेवाला नायक बहाल होगा। श्रमिक की ओर से उसकी सहानुभूति में बौद्धिक वर्ग को ही तो नये राज्य का अधिनायकत्व सम्हालना होगा। इसके लिए खुद रोटी से ज्यादा रोटी के मोर्चे पर आँख रखनी होगी।

मैं मानता हूँ कि रोटी के मोर्चे पर संस्कृति नहीं चाहिए, संस्कृति का गीत नहीं चाहिए। मेरे विचार में वहाँ रोटी और रोटी का श्रम भी उतना नहीं चाहिए। वहाँ मोर्चा चाहिए, गीत भी मोर्चे का ही चाहिए और मोर्चे को चेताने के लिए रोटी से ज्यादा उसका अभाव चाहिए। वहां तीखी और बाँकी राजनीति चाहिए। रोटी के लिए प्लान बन सकते हैं, स्कीमें बन सकती हैं, दफ्तर बन सकते हैं और मार्च-नृत्य के नक्शे बन सकते हैं। क्योंकि इन सबकी मोर्चे में गति है और स्वयं रोटी में गति नहीं है।

रोटी के मोर्चे मुझे इस तरह दो ही दिखाई देते हैं। घर घर जो उस के लिए मेहनत हो रही है, नाज उगाया जा रहा है, चक्की पीसी जा रही है, वह तो छोटे श्रम की बात है। इसलिए वह तो मोर्चे के नाम पर उतनी विचारणीय नहीं है। उसके लिए विचार से अधिक श्रम और बात से अधिक काम चाहिए। उसके लिए राज की बात करने और राज की बात करने में अधिक स्वयं कम में काम चला लेने और अधिक-से-अधिक उपजाने की दरकार होगी। इससे उसमें मोर्चा कम बनेगा, काम अधिक बन चलेगा। अतः उसकी बात वृथा है। मोर्चे असल में दो हैं (१) जिन पर उपकारी हैं, (२) जिनके ऊपर अधिकारी हैं।

१ उपकारी रोटी का मोर्चा बना जाता है। पर यह भी

अलग हो चीज है। सबको सहज भाव से रोटी मिलते जाने से यह स्वाद पूरा नहीं हो पाता, इसके लिए मोर्चा बनाना जरूरी होता है। जिसे कहते हैं राष्ट्रीयकरण, सरकारीकरण, वह बहुत कुछ यही मोर्चाबन्दी है। दस हजार मिल मजदूर एक मिल मालिक से अपनी रोटी पाते हैं। पाँच लाख कलम के मजदूर क्लर्क एक सरकार से रोजी पाते हैं। लाखों-करोड़ों प्रजाजन शासनासन पर बैठे राजन्य जनों की कृपा से साँस लेते और पेट पालते हैं। इस अधिकार-भोग का सुभीता मोर्चा खड़ा किये बिना कैसे बन सकता है। इससे 'ऐ नागरिको! पार्टी अनुशासन में पाँत बनाकर बैठो। नम्बर आये तब अपना नाम लिखना और वोट देना। उसके बाद तुम्हारी तरफ से हम जायेंगे और सब रोटी जहाँ जमा है, वहाँ से लाकर बराबर-बराबर तुम में बाँट देंगे। जानते हो तुम क्यों भूखे हो? क्योंकि अव्वल तो एक रोटियों का ढेर नहीं है। कुछ अपने चौके चलाते हैं। रोटी, जो किसी की निजी सम्पत्ति है, यही तो मुसीबत है। तुम हम मौका दो कि छीनकर पहले सबकी रोटियों का एक बड़ा ढेर लगा दें, फिर देखना कि हम सबको पूरी तरह पेटभर कर देते हैं कि नहीं। पर सावधान! हम ही हैं जो तुम्हारा पेट भरेंगे। उस अधिकार की तरफ कहीं दूसरों को पहुँचने दिया तो गजब ही हो जायगा।"

यह रोटी का दूसरा मोर्चा उतना हाथ नहीं है जिसके हाथ में पकी पकाई रोटी है। यह उनके पास है जिनके हाथ खाली हैं, इससे जिनके पास रोटी के बदले वायदे और नक्शे हैं। वायदे छोटे होने की वजह नहीं है, इससे मोर्चा भी बड़ा है। धन की हद हो सकती है, आशाएँ असीम हैं। इसलिए आशाओं पर भूख का और भूखों का पालनेवालों का रोटी का यह मोर्चा सचमुच ही उपकारिता के मोर्चे से बहुत ताकतवर और ताकतवर होता है।

इन दोनों से बाहर तीसरे मोर्चे की मुझे खबर नहीं है। तीसरे जन शायद वे हैं जिन्हें रोटी के लिए उद्योग और श्रम करना पड़ता है। उनसे इसलिए कि कोलाहल में भूख और भूखों के नाम पर पेटभरों के पेट हो

१

शान्ति और युद्ध

दुनिया एक युद्ध से मुश्किल से पार हुई है कि दूसरा उसके सिर पर आ मँडराया है। इससे दुनिया की आज की समस्या है शान्ति। जगह-जगह शान्ति के लिए सभाएँ हो रही हैं। इन लोगों की तरफ से जो भाषण हैं, और उनकी तरफ से भी जो करते हैं। ऐसा मालूम होता है कि सभी चाहते शान्ति हैं पर पाते हैं कि जाने अनजाने, अपने या अपने आदर्श के युद्ध में वह पड़ जा रहे हैं।

निश्चय ही कोई युद्ध नहीं चाहता। युद्ध हो तो उत्तरदायित्व का दोषारोप में सभी पक्ष उसकी जिम्मेदारी सदा दूसरे पर डालते। इसलिए सारों दल आप-अपने को शान्तिवाला कहते हैं। अगर उन्हें झूठा न मान, मानना होगा। कारण, क्योंकि सचमुच उन्होंने चाहे जो हो, फिर स्वार्थी है। इस बात को समझ सकें तो समस्या पकड़ में आ जाय। जो लड़ते हैं, वे लड़ना (युद्ध करना) नहीं चाहते। लेकिन उनमें हरएक मानता है कि दूसरा हमला करे तो बचाव में लड़ने के सिवाय चारा नहीं रहता। मरना तब धर्म नहीं है तो धर्म बचाना है। इस दलील पर जब आ जाते हो तब जान गँवा देना भी धर्म ठहरा। इस तरह सुरक्षा में शत्रु को मारना या अपनी तरफ से उसको जान का खतरा पैदा कर देना भी आवश्यक बन जाता है। इस तरह कि लड़ाई यों जान की अनिवार्यता के रूप में हमारे बीच आ जाता है।

दुनिया में प्राणी का जीवन कैसे चलता है? यहाँ हरएक स्वभाव है कि जिसका वह मनोभाव अपर हो उसको मारे और खाए चले म स्वार्थ। इस प्रकार का नियम जड़ता का नाम है जंगली जीवन। आदमी उस में से आया है। शायद आज भी उसमें हो रहा है, लेकिन

अपने रहने के ढंग को सभ्य कहता है। जानवर को जंगली और अपने को सामाजिक बताता है। लेकिन अगर जीने का तरीका उसका यही है कि जो हो हथियाये और जैसे बने अपने को बचाये, तो उसको जानवर से कुछ दूसरा कैसे कहना होगा!

वन्य पशुओं की लड़ाई जिन्होंने देखी है, बताते हैं कि अद्भुत होती है। कमाल की पैंतरेबाजी वहाँ देख लीजिये। इधर शेर के पास नहँदार पंजे हैं, तो सूअर के पास तीखे दाँत। इस तरह अलग-अलग खूबियों व हथियारों से मुकाबले में वह चोटें चलती हैं कि सौन्दर्य का विलक्षण चमत्कार उपस्थित होता है। बड़े लोगों के बैठकखानों में इसी से शिकार की नहीं, तो अधिकांश वैसी ही तस्वीरें आप को मिलेंगी। इस तरह युद्ध प्राणियों का सबसे प्रिय खेल रहा है। उसके साथ में तरह कला-कौशल और शान शिशान वेग से खिल उभरे हैं। जीवन मानो उस समय रस से आ भरता है। नसें फरफरा उठती हैं और मन उमंग की पेंग ले उछलता है। जिन्दगी सूखी नहीं रह जाती, जैसे ज्वार से भर आती है। मारने के उछाह में आदमी अपनी जान हथेली पर ले खुद मौत में रम चलता है। प्राण लेने की कोशिश में प्राण पर खेल जाना उसे असल जीना लगता है।

युद्ध से यह सब होता है। इससे युद्ध को छोड़ना सहसा उसके वश की बात नहीं है। इतना उत्कृष्ट रस वह दूसरी किस चीज से पा सकता है! इसलिए जान पड़ता है कि हम थोड़े-बहुत जो शान्ति काल में रहते हैं, सो इस ढंग से कि उसके फल में युद्ध जल्दी अनिवार्य हो आये। युद्ध मानो घटना नहीं है, वह हेतु है। हमारी जीवन विधि का वह फलित फल है, मानो वह हमारी सिद्धि है। इसलिए शान्ति के सवाल को इस रूप में देखना ठीक न होगा कि युद्ध से कैसे बचा जाय। युद्ध द्वारा आखिर कुछ तो हम चाहते हैं। उस आशा का एकदम शून्य नहीं किया जा सकता। केवल अभाव तो टिकता नहीं। इससे अभावात्मक होकर शान्ति कभी आनेवाली नहीं है। वैसी तो यन्त्र की शान्ति है। उसके लिए चैतन्य को खोकर जड़ बनाना बस हो जायगा। यह निष्क्रियता चाहती जीतेगी। वह शान्ति मानो माँगेगी

कि हम अपने को ह्रस्व करें, नाना निषेधों से प्राण प्रवाह को चकबंद करें। यह निस्तब्धता का जगत् स्थिरता चाहेगा और गति-मात्र कर्म-मात्र उसके लिए भ्रान्ति के कारण होंगे।

आदि-काल से शान्ति के साधक सन्त हम को मिलते आए हैं। इनसे मतलब विश्व के सभी देशों का। अपने भारत को लें, तो यह बात और भी सच है। लेकिन उन महात्माओं ने अपनी जो शान्ति और मुक्ति साधी, तो क्या वह अखण्ड रूप वस्तु था? क्या समाज में व्याप्त युद्ध के प्रति उनमें हठात् विमुखता न थी! या समाज-मान्य युद्ध-नेता का सहारा भी न था? युद्ध-रत राजन्यों के प्रश्रय में रहकर क्या उन्होंने अपनी शान्ति को युद्ध का एक तरह साथी और सहचारी ही नहीं प्रमाणित किया? किन्तु अपने भारत में हम देखते हैं कि ऋषि-मुनियों और सन्त-तपस्वियों की लम्बी परम्परा को प्रणाम करते महापुरुष हुए राम और कृष्ण जिन्होंने युद्ध किया तो नहीं, युद्ध किया। किया और डट कर। राम और कृष्ण क्या योद्धा और योद्धा नहीं थे? और पश्चिम के मसीहा ईसा को क्या इसलिए सूली इतना जरूरी हुआ होगा कि वे नितान्त पर एकान्त शान्ति-साधना में रहे? क्रौंच निर्भर हो उनका लगेगा, जो क्रुद्ध और निशस्त्र न होगा, वह सरल और पराक्रमी होगा। योद्धा उसे होना ही चाहिए। मुहम्मद साहब जिनका धर्म ही शान्ति कहलाता, क्या लड़ाइयों के झंझट से बचकर आराम पा सके? इसलिए शान्ति को जब सोचने योग्य है, तो इस कारण नहीं कि युद्ध से बचना है। स्वार्थवाली शान्ति तात्कालिक रूप से कायर की और अन्तिम रूप से पाप की है। वह विचार की वस्तु ही नहीं। घर गिरस्ती बाँधकर रहनेवाला हर आत्मा ऐसी सुख-शान्ति को सब अपने यहाँ सजाता और उसी भोग को प्रतिष्ठित करता है। इस शान्ति-भोग और उसकी सुरक्षा के लिए चाहे फिर क्या कुछ नहीं हो सकता। मोटे पत्थर के किले की ऊँची-चौड़ी प्राचीर क्या इसीलिए नहीं उठाया जाता कि अन्दर महलों की शान्ति अक्षुण्ण रहे? युद्ध ऐसी सुख-शान्ति में से होते हैं।

हम सब उस अपनी सुख-शान्ति को ऊँची दीवारों में और पर्दे छिपा-

में घेरकर ऐसा सुरक्षित बना लेना चाहते हैं कि कोई उस पर न झपट सके न कोई ग्रास बना जा सके। इसी का करिश्मा है कि सब कहीं हाय हाय और नोच-खसोट मची हुई है। यही चाह समूहों के नाम पर संगठित होकर खुल खेलती है, तो युद्ध का रंग भर लाती है। अपनी छोटी-मोटी शान्तियों की चिन्ता और रक्षा ही यह बारूद है, जो इकट्ठी होकर और चिनगारी पाकर आसमान को अपने स्फोट से रंगारंग और लाल कर उठती है। सब खूबसूरतियाँ लिखती हैं कि जिनको लेकर इतिहास के पृष्ठ जगमग हो रहते हैं। यानी युद्ध से विमुख होकर अपनायी जानेवाली शान्ति खुद उस युद्ध के लिए ईंधन है। हम नहीं लड़ते, यह कहने से लड़ाई कम नहीं होती, सिर्फ हम कम होते हैं और हमारी लड़ाई का बोझ दूसरों के कन्धों पर जाकर स्थायी और पक्का ही बनता है। ऐसे तनख्वाहदार सिपाही पैदा होता है जिसका पेशा लड़ना बनता है। और युद्ध सबसे ऐश्वर्यशाली उद्योग और व्यवसाय बनता है। फिर आधुनिक सेनापति कभी लड़ते सुना गया है? वह उल्टे शान्त रहता है, जबकि सिपाही उसी की लड़ाई लड़ते हैं। बल्कि और पीछे जाइये, तो घर में बैठा या सभा में बोलता युद्ध-सचिव और भी बे आराम और शान्त है। इसका मतलब है कि लड़ाई उसकी रचना है, इसी से उसका लड़ना दूसरों पर है। पेशेवर सिपाही क्या लड़ते हैं! क्योंकि बदले में मिलनेवाले वेतन भत्ते से अपने चाधेसन में वे कुछ घर-बारी सुख-शान्ति अपने लिए जुटा पाने की आशा रखते हैं। हम सबकी अपनी अपनी शान्तियों की चिन्ता ही युद्ध की सामग्री और अवसर बनती है।

इसलिए प्रश्न पर ऐसे विचार करना बेकार हो जाता है जैसे युद्ध का अभाव शान्ति हो या दोनों परस्पर विरोधी हों। ऐसे एकान्ती और सिद्धान्ती विचार से दुनिया युद्ध के लिए खुला खेत हो रहती है, जिससे सिर्फ शान्तिवादी किनारा खींचने की अपने लिए छुट्टी पा जाते हैं। लेकिन ये दोनों गलत राहें जिन्दगी की नहीं हैं। शान्ति यदि इष्ट है, तो सबकी और सबके बीच होकर इष्ट है। अन्यथा वह छलना है। इससे प्रश्न यह होता है कि हम जो मारकाट के जरिये पाना और बचाना चाहते हैं, क्या उस

है, जो अपने चारों ओर पदार्थ जोड़ता और उनसे अपने में ममता गति से और नियति से बचने की युक्ति में चतुर स्वार्थ की स्थापना करता है। काल-गति दाहती धधकती हुई उसकी छाती पर से जब चलती है, तो उसे लगता है, जैसे शान्ति का और धर्म का अपलाप हो रहा है। पर यह अप्रतीति है। कारण, शान्ति का धर्म हिंसा के अधर्म से मोर्चा लेता हुआ ही चलने को बाध्य है। उससे किनारा काट चलनेवाली शान्ति क्योंकि प्रवंचना है, इससे युद्धारम्भ में सबसे पहले वही स्वाहा होती है।

शायद ऊपर खतरनाक भाषा आ गयी। पर खतरे से बचकर सत्य की तरफ चलना कैसे होगा? 'शान्ति के लिए' नहीं 'शान्ति के द्वारा' हमें जाना है। साध्य को साधन से गर्भित और तन्मय रहना होगा। फिर उस संकल्प का आदमी मृत्यु कभी खोजेगा ही नहीं। उसे मृत्यु से बचना नहीं है। उसे किसी से, कुछ से बचना नहीं है। उसे सबसे नमस्कार होना है। उसे सर्वात्मय से तादात्म्य पाना है। इसलिए जहाँ युद्ध है, वहाँ भी वह है, यद्यपि अहिंसक होकर है। युद्ध से अलग होनेवाली शान्ति हिंसा के लिए जब कि ईंधन है, तब युद्ध के सम्मुख रहनेवाली अहिंसक कर्मपरायण शान्ति उस हिंसा के लिए भयानक ललकार है। ऐसी शान्ति से बचने का प्रश्न स्वयं युद्ध के लिए उपस्थित होता है, युद्ध से बचने का प्रश्न उस शान्ति के लिए नहीं उठता। यही नहीं, बल्कि शान्ति का तो स्वतः प्रश्न है कि युद्ध कहाँ है, कि जहाँ हो वहाँ वह पहुँचे और कहे—'भाई, तुम जानते हो, तुम्हारी वीरता निरी कायरता है। तुम्हारे शस्त्रास्त्र का भय मुझे कैसे हो सकता है! बल्कि उस कारण तुम पर दया होती है। तुम पर प्रहार सवार है, तो लो, यह मैं हूँ। मुझ पर प्रहार कर शायद तुम पहचानो कि मैं दुश्मन नहीं हूँ, बल्कि वह हूँ, जिसके लिए तुम भटक रहे हो।' ऐसी जो शान्ति है, वह संसार के सर्वश्रेष्ठ योद्धा से अलग कहीं रह नहीं सकती। यह योजना की वस्तु नहीं, साधना की वस्तु है। इसी से आज की शान्ति योजनाएँ युद्ध-योजनाओं की नकलबन्दी का भाग बनी देखी जाती हैं। योजना में शान्ति नहीं है, जैसे कि फानूस में आग नहीं है। गुस्सा लेकर

ही कोई धूप दे सकता है और शान्त होकर ही कोई शान्ति दे सकता है। अर्थात् जमाव-जुगाव से, संख्या-गणना से, तन्त्र से और यन्त्र से उसका सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध आत्मा से और आत्म-संस्कार से है।

ऊपर तत्त्व की बात आ गयी। उसे ही व्यवहार में उतारकर देख लेना है। उदाहरण के लिए हाल का विश्व-युद्ध लें। सब जानते हैं, उससे पहले की वर्साई का सन्धि के नीचे शुद्ध न्याय नहीं था, शक्ति-न्याय था। शुद्ध न्याय प्रेम का नियम पालता है। प्रेम का नियम है कि असमर्थ को वस्तु-जगत् की अधिक सुविधा चाहिए। समर्थ छोड़ सकता है, इसलिए शक्तिमान अशक्त को अधिक देगा और स्वयं कम लेने को तैयार होगा। अन्त में तो उसे निरीह निष्प हो रहना है। यह है सिद्धान्त प्रेम का, धर्म का, यज्ञ का, श्रम का। पर वर्साई-सन्धि ने पराजित जर्मनी के अंग-भंग का न्याय माना, अपमान का उसको पुरस्कार बनाया। जर्मनी क्या उस राष्ट्रीय अहं-भावना का ही नाम न था, जो अमुक प्रदेश और अमुक संख्यक लोगों को परस्पर मिलाये और उठाये रख रहे हुए थी? उसको कृतार्थता की ओर न ले जाकर दूसरे विशिष्ट राष्ट्रीय अहंकारों के गुमान के आगे में ताड़न और तिरस्कृत करने की कोशिश क्या मानवीय न्याय हो सकती थी? तो उसका परिणाम ही न्याय कैसे आता! कुछ ही वर्षों में हिटलर में मूर्त होकर क्या वह राष्ट्र-चेतना, उन्मुक्त और उद्धत, यूरोप के लिए चुनौती नहीं बन उठी? वर्साई वह समय था कि जब हम राष्ट्रीय अस्मिताओं का विष हर सकते और राष्ट्र भावना का संस्कार दे सकते थे। पर अहंकार ने अहंकार को चोट दी, तो परिणाम में उत्कट अहंकार का जन्म होना ही था। तिरस्कार में से अहंकार छोड़ और क्या पनपनेवाला है?

वर्साई का उदाहरण फिर दोहराया जा रहा है। एक बार फिर शस्त्रों की बहुलता और प्रबलता के हाथ जय आयी है। तब मन से न्याय निर्णय का अधिकार आया है। जय शस्त्र की है, तो निश्चय न्याय को भी शस्त्र में ही होना होगा। हम भुगत चुके हैं और आगे के लिए भी ध्यान रखें कि शक्ति का न्याय वह नहीं है जो समाधान ला सकेगा। वह दानवी

न्याय है, यानी वह अन्याय का बीज बोकर अगली पीढ़ी के नाम युद्ध की फसल काटने का काम दे जाता है। ठीक है, युद्ध को तो होना होगा। अन्याय मानवता की आत्मा में बिना धड़के रह नहीं सकता। उस विकार को फटना और मिटना होगा। युद्ध विकार का विस्फोट है। पर विकार फटे और फूटे, तो फिर अपने बीज मनुष्यता के अन्तरंग में और गहरे डाल जाय—क्या चिरकाल तक यही होता रहेगा? क्या संस्कार आगे आकर विकार में बाधा न देगा? क्या हिंसाओं में ही युद्ध होगा? क्या एक भी पक्ष कभी मारने से इन्कार करके मरने की प्रतिज्ञा लेकर आगे न बढ़ेगा कि युद्ध की ही अन्त्येष्टि हो?

एक आदमी हमारे बीच होकर गया है। महात्मा नहीं कहता, अवतार नहीं कहता, मैं उसे आदमी कहता हूँ। वह आदमी के सिवा और उससे ज्यादा कुछ न था। उसने प्रकृति से बदला नहीं निकाला कि मुझे नुकीली दाढ़, नाखून और पंजे क्यों नहीं दिये? शरीर का वैसा बल क्यों नहीं दिया? नहीं, उसने अपने इन्सान होने को विनम्र और कृतज्ञ भाव से स्वीकार किया। सींग, पंजा और दाढ़ों की जगह काम देने को उसने तरह-तरह के हथियार गढ़ने में पुरुषार्थ नहीं माना। उसने जानवर से बराबरी नहीं ठानी। उसने माना कि जानवर से कम हूँ, इसी से मैं इन्सान हूँ। इस कमी में ही मेरी सम्पदा है। इन्सान में जिस्म कम है कि जिससे दिल ज्यादा हो गया। और दिमाग भी उसे ज्यादा है। उस ज्यादा दिमाग से क्या वह जानवर से जिस्म की ताकत में कम नहीं, ज्यादा होना चाहता है? और, यह खुद जानवरपन है, जो दिमाग को उस काम में लगाता है। यह जो इन्सान को दिल मिला है दिमाग क्या उस नेमत को नहीं समझेगा, नहीं सँवारेगा? इस तरह आदमी ने अपने दिमाग की उसकी रत्ती-रत्ती शक्ति को अपने या दूसरे की बरबादी को नहीं, इन्सानियत को बनाने में लगाया।

वह आदमी अब उठ गया है। जीआ तब कभी पलभर वह शान्ति से न रह पाया। कौन आफत थी जो उसके सिर न हुई। एक हंगामा चारों तरफ रहा और उसने बीच में वास किया। सच-सच उसने मौत

मिर्च और लगाइयाँ लगीं। आराम का एक कौर उसके भाग न आया। कष्ट-संकट ही उसका संगी रहा। क्या-कुछ उसके पास न पहुँचा? सब विभूति, जो दुनिया चाहती है, उसके इर्द-गिर्द घूमती रही। पर उसने उन चीज़ों पर भी हाथ नहीं डाला, मुट्ठी नहीं बाँधी। कुछ अपने हाथ न ले सका। चार हाथ कपड़े से आगे उसे कहीं कुछ न हुए। खाने का साग-पात और रहने का बाँस-फूँस की झोंपड़ी उसे नसीब बना। वह आत्मा शान्ति के एकान्त में नहीं गया। युद्ध के घमासान की तरफ़ ही उसके कदम रहे। जो कहा, वहाँ पहुँचा, वहाँ उसके साथ औरों पहुँचा। वक़्त आया, तो वहाँ भी राजों और राजधानियों की राजनीति ख़राब न की। लेकिन जब राज के और युद्ध के जोड़-तोड़ और दाव-पेच उसके पास विनती करते आये और उसने उन्हें दुत्कार कर लिया। शान्ति की उसने कहीं भी बाहर नहीं खोजा। सुबह-शाम की प्रार्थना के सहारे वह उसे अपने अन्दर सँवारे रहा। फिर युद्ध उसका कर्म था, क्योंकि शान्ति उसका धर्म था। इस धर्म-युद्ध में मुसकराहट उसकी ललकार बना और प्रेम उसका अस्त्र। शत्रु इसमें मित्र हुआ और सगा उसे शत्रु।

वह आत्मा निपट आदमी के रूप से अभी हाल हमारे बीच जी गया है। एकदम आदमी का था, इससे वह रूप हमें समझ नहीं आया। बहुत अनोखा वह हमें लगा और कभी तो अचरज हुआ कि यह देवदूत तो नहीं है। लेकिन युद्ध का दानव भी उसमें दाव आया। शायद अपने हित न्याय के धाम में से उन्होंने उसे देखा हो। वह, जो हो, अपने सीने पर तीन गोली खाकर हमें हाथ जोड़ता, मानो हमसे क्षमा माँगता अपनी विदा ले गया है। अब वह आँख से ओझल है और उसने भारत में स्वराज है। स्वराज में उस आदमी के ही कुछ साथी सरकार बनाकर बैठे हैं। वे उसी की राह चलना चाहते हैं। उसकी वह चली-चलाई राह तो सीधी रास्ती है, पर आगे उसे बताने के लिए वह खुद पास नहीं है। ऐसे वे सारी बड़ी उलझन में हैं। तरह-तरह के दुश्मनों से घिरकर वे फ़ौज रखे रहे हैं, पक्के धक्के कर रहे हैं, कारख़ाने लिए रहे हैं और इस तरह

हिन्दुस्तान का मुरव्वित, ग्रन्थ और मालामाल बनाने की कोशिश में लगे हुए हैं। वह आदमी उघाड़े बदन, पाँव-पाँव चलता था। अपनी श्रद्धा में उसे जल्दी न थी। लेकिन जमाना जाने कैसा है! इसलिए उसके और साथियों को दुगा की गति से और विद्युत् के वेग से चलना हो रहा है। कारण, पश्चिम आगे है और पूर्व को पश्चिम के बराबर होना है।

और इधर पश्चिमी गोलार्द्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठक चलती है जो सम्राम होती है। वाद प्रतिवाद ही नहीं, शस्त्रास्त्र का उत्पादन भी तत्परता से हो रहा है। जर्मनी, जिसने सिर उठाया था गिरा पड़ा है और मालूम होता है कि मित्र लोगों में शत्रु के खत्म होते ही आपसी मित्रता की जरूरत भी खत्म हो गयी है। बल्कि बीच से शत्रुता उठकर दोनों मित्रों को अपनी तरफ खींचती रही है। शत्रु मिटा, पर उसके कारण जैसे और नकली बनी शत्रुता अँगड़ाई लेकर दोनों को मोह रही है।

ऐसे में वह आदमी याद आता है, जो इस पूर्णता और अकिंचनता से जीआ कि हमारे ग्रन्थ की पुट उसकी सचाई पर नहीं पाती। वह सीधी-सादी युद्ध का आदमी था, जैसे कि सीधी-सीधी-सादी वह शान्ति का आदमी था। सच यह कि वह सीधी-सादी आदमी था। इसलिए इस या उसमें कम अधिक बँटकर वह नहीं हो सकता था। जिसका था, पूरा-का-पूरा था और अचरज कि वह सबका था। अनेकता यहाँ वस्तुओं, विधानों और विवादों की है। धारणाएँ और कामनाएँ अनेक हैं पर वह आदमी एक था—इनसे निधारण और निष्काम था। लौकिक विविधताओं में एक सा व्याप्त या विमुक्त था। शायद वह केवल चिन्मय था। प्रेम का इतमत आपस में कैसे बाँटकर बैठें? अब बाहर वह कहीं नहीं है और हम लाचार हैं कि उसे अपने भीतर से ही पायें। वहां के सिवा उसे कहीं देखा, सुना और पाया नहीं जा सकता। ग्रन्थों में नहीं, म्यूजियम में नहीं, समारोहों में नहीं। शायद अपने अंदर में ही उसे जगाकर हम आपस उद्धार भयग्रन्त और अशान्त करने की यह वृत्ति और बना-चला सकते हैं।

✢

नहीं है, जो इस राष्ट्र रोग का उपचार में रत। या दो मतवाद हैं, साम्य वाद और लोकतन्त्रवाद। पर ये भी राष्ट्र-एकांत (नेशनल सावरेंटी) को मान और उभार कर चलते हैं, उससे समर्थ और उत्तीर्ण वे नहीं हैं। शान्ति के लिए यही सबसे बड़ी और जड़ की बाधा है।

गांधीजी में दुनिया को तो भी दादस था। वह एक समूचे राष्ट्र के नेता थे, पर उस राष्ट्र से सीमित न थे। यानी आज जबकि दुनिया इतनी छोटी बन गयी है कि अन्तर्राष्ट्रीय होकर ही हमारा काम-धाम चल सकता है, तब किसी भी पूरे राष्ट्र का बल जिसकी कृति में नहीं है, ऐसा व्यक्ति या ऐसी नीति, क्या शांति या क्या युद्ध, किसी में कुछ पर घर नहीं सकते। गांधीजी इसी से भारत-राष्ट्र को लाँघकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं उतरे। वे जानते थे कि काम-काज के क्षेत्र में केवल तत्त्व विचार की ओर से किसी नयी नीति का प्रयोग आरम्भ नहीं होनेवाला है। इसलिए वह तत्त्वदर्शन या विचार विवेचन का प्रश्न नहीं है। प्रश्न अधिक घनिष्ठ और समग्र है वह अन्तर्राष्ट्रीय है। इसलिए उसके घटक किसी एक राष्ट्र का आत्म प्रयोग से आरम्भ करना और उस नीति का प्रवर्तक बनना होगा। उनकी श्रद्धा थी कि यह भाग भारत का है। अनादि में अरूप सत्य के होने पर भी (बल्कि भी) माना पूरी तरह वह स्व-राष्ट्र के बनकर रहे। जब भी अवसर आया उन्होंने यही कहा कि भारत द्वारा ही उनका काम इस दुनिया को पहुँचनेवाला है। यही दृष्टि थी जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके बाद राष्ट्रीय सरकार से भेद रखकर भी उन्होंने अपना अभेद बनाये रखा।

शांति कौन नहीं चाहता है? जो युद्ध ठानते हैं, वे स्वयं क्या शांति नहीं चाहते? बल्कि वे तो स्पष्ट अनुभव करते हैं कि राष्ट्र-नायक होने के नाते उन पर शांति-रक्षा का दायित्व अधिक है। उस दायित्व-पूर्ति में ही उन्हें युद्ध स्वीकारना और ठानना पड़ता है। जहां तक उनकी इस मान्यता की बात है, उन्हें गलत नहीं ठहराया जा सकता।

इसलिए शांतिवादी का यह चुनौती है कि वह शांति की नीति यहीं किसी इकाई पर, किसी मानव-समुदाय पर लागू करके बताये। ...

से युद्ध को हराना है तो किसी दल की समूची नीति को, विदेश-नीति को भी शांतिवाद पर ढालकर और चलाकर दिखाये। ऐसा नहीं होता तब तक लोग क्यों न कहें कि शांतिवादी स्वप्नवादी हैं, आदर्शवादी हैं। व्यवहार जगत् के नहीं, वे तो विचार-विहारी अल्पसन्तोषी लोग हैं। उनके कंधों पर जिम्मेदारी भी नहीं है, इसलिए वे कल्पना में और आदर्श में ऊँचे रह सकते हैं। पर शासनवाला अपनी जानता है और चलना-चलाना उसका काम है।

इस पद्धति से शान्ति की बात शून्य हो जाती है। वह अनसुनी कर दी जाती है और युद्ध की तैयारियाँ ज्यों-की-त्यों अनिवार्य बनी रहकर लोक-मानस को घेरती चली जाती हैं।

यह सवाल नहीं, चुनौती है। इसका उत्तर स्वयं उत्तर बनकर ही दिया जा सकता है। चुनौती शांतिवादी के लिए न भी हो, अहिंसावादी के लिए है। क्योंकि शांतिवादी शांत रहकर जी जाय और मर जाय, इतने में शायद सार्थक हो सकता हो। लेकिन अहिंसा की सार्थकता कोरी शांति में नहीं है। बाहर जग की हिंसा से जिसकी आत्मा भीतर चोट न खाय, वह अहिंसक कैसा? अतः प्रतिकार अहिंसक का धर्म है। अपने पर अन्याय को न सहना आत्म का धर्म है। गांधी की शांति और गांधी की अहिंसा की यही विलक्षणता है। अर्थात् हिंसा और अशांति सदा गांधी को अपनी ओर खींचती रही है क्योंकि अहिंसा बन्द होकर न बैठ सकती है, न चैन रहने दे सकती है। कारुण्य क्या कहीं समाया रह सका है? उसे तो बाहर सब कहीं पहुँच और रमे बिना चैन ही नहीं है।

अहिंसा की चर्चा तो बहुत है। निश्चय उसमें अहिंसा का ह्रास है। तर्क के तार फैलाकर अहिंसा को उसमें इतना उलझा दिया जा सकता है कि वह निष्प्राण हो जाय। जो स्वयं शक्ति है वह इस तरह जड़ बना दी जा सकती है। पर इन सबके लिए जो या पुरातन परम्परा की श्रद्धा में अपने को जैन और वैष्णव कहकर अहिंसावादी गिनते हैं, या आधुनिक गांधी-अनुगामी होकर अहिंसाधर्मी बन गये हैं, सवाल है कि और सब

कहीं हथियारों की तैयारी देखते हुए और सभी को द्वेष और दुश्मनी की राह पर कटिबद्ध जानते हुए भी क्या वे अपने इस भारत देश को, एक अकेले अहिंसा की नीति पर चलने को कह सकते या चलाकर दिखा सकते हैं? अगर नहीं तो क्यों न कहा जाय कि अहिंसा व्यक्ति धर्म ही है, जगत् धर्म होने की उसमें क्षमता नहीं है।

मेरा मानना है कि शांति की सीमा यहाँ आती है और शांति पर आरोप भी इसी जगह आता है। भारत के भीतर शांति सबकी समझ में आ जायगी पर वहाँ सीमा पर कि जहाँ से विदेश शुरू हो जाता है और शायद जहाँ से दुश्मनी शुरू हो जाती है, वहाँ पर भी क्या शांति का ही धर्म लागू होगा? वहाँ यदि शांति का धर्म नहीं चल सकता तो निश्चय रखना होगा कि अन्दर-अन्दर की शान्ति केवल बाहर की लड़ाई की सहायक ही बन रहनेवाली है।

युद्ध यदि तत्त्व-चर्चा का विषय नहीं है तो शान्ति का भी उसी तरह का विषय बनकर नहीं रहना है। दोनों उससे अधिक ठुद्धर हैं। युद्ध एक महान् उद्योग है। संसारव्यापी उद्योग एक वही है। जाने-अनजान हम उसके यन्त्र और अवयव बने हुए हैं। युद्ध किसी खास हिस्से में किसी खास अरसे तक चिनगारियाँ देकर फूटता दिखता है तो उसको हम वहीं तक सीमित न मान बैठें। जो नीचे तह के लाल रंगों में वहाँ फूटती दिखती है, उसको तिल तिलकर बनाने और जमा करते तो हम रहे जानेवाले शान्ति-काल में हैं।

शान्ति कैसे हो सकती है, जब तक कि युद्ध में लगा उद्योग बराबर यह न उभर सके? करोड़ों व्यक्तियों की लाखों तरह का काम युद्ध होता है। हमारी समस्त और सतत क्रिया उस लक्ष्य की एकाग्र होकर चलती है। शांति को अगर आना है तो हमारी समस्त और सतत क्रिया को उस भाग बनना होगा। उस शान्ति को करोड़ों-करोड़ की नित्यप्रति की रचनात्मक चर्चा देना होगा। उसी का प्रयोगात्मक रूप गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम है। पर ध्यान रहे, रूप में शान्ति नहीं है। अगर कहीं

बने हुए हैं। शेष, यानी प्रजाजन, सरकारी जनों से सदा ही अधिकार की, अनुमति की, कृपा की आशा और भिक्षा करते रहते हैं। यह स्थिति आज मानों हद तक पहुँची हुई है। टोटेलिटेरियन जो नहीं भी है, वह भी स्टेट मानो किसी अन्तर्गत लाचारी से उसी सर्वसत्तात्मकता की ओर चली चली जा रही है!

इसका त्राण सिक्के के अवमूल्यन के सिवा मुझे तो और कहीं नहीं दीखता। अवमूल्यन ऐसा नहीं कि जैसा हाल में डालर की अपेक्षा में स्टर्लिंग और रुपये का हो गया है। नहीं, अवमूल्यन खुद सिक्के का हो, और वह श्रम की अपेक्षा में। यानी मूल्य श्रम का इतना बढ़ जाय कि सिक्के का वह लगभग रह ही न जाय। यानी श्रम की कदर न कि मुद्रा की वेकदरी।

जब तक मूल्यों में यह क्रांति नहीं होती शान्ति दिशा से बाजी नहीं ले सकती। जब तक औसत आदमी लाचार है कि वह धन के लिए श्रम करे या धन उसके श्रम-फल को उठा ले जाय तब तक श्रम पीछे और धन आगे रहेगा ही। यानी तब तक परिमाण का महत्व होगा, गुण की अवगणना होगी वस्तु की पूजा और व्यक्ति की अवज्ञा होगी चातुर्य चलेगा और सहानुभूति भूली रहेगी उन्माद मूरता समझा जायगा और उपार्जन कुशलता का प्रमाण होगा—तब तक जिन्दगी हमारी आधी रहेगी और शान्ति युद्ध की सामग्री बनने के लिए रची जाया करेगी।

मेरा मानना है कि गांधीजी इसका उसी तरफ लिए जा रहे थे। उत्पादन का और शासन का विकेन्द्रीकरण वह उसी निमित्त से चाहते थे। चहुँ ओर दूर दूर फैला धरती में जमीन के रूप में पड़ी हुई अवस्था की श्रम-साधना सिक्के के जादू से चांदी के टुकड़ों के रूप में शहरों में खिंची और खिंची चली आती है, यह दृश्य उनको मारता था पातक जान पड़ता था। सिक्के का यह जादू हमारे सिर चढ़ा था और चढ़ा है। जरा समझ आवे तो हमारी आँख मुग्ध से खुल जाती है और श्रम से ही हमें प्यार है। यह तो कृपा है कि यह समझदारी अब तक नहीं पहुँच पाई फिर

श्रमिक श्रम में अपने को सार्थक करते ही चले जाते हैं। लेकिन माना कुछ ने प्रण किया है कि वे सबको 'सद्ज्ञान' पहुँचाकर ही रहेंगे, यानी मानव चिंता को आर्थिक और आर्थिक बनाकर ही छोड़ेंगे। मार्क्स का आदि लेकर कम्युनिज्म ने यह बीड़ा उठाया दीखता है। उसके इस जय ने मानव-जाति की भाषा में कहें, तो बड़ा अनर्थ किया है। क्योंकि जिसका मूल्य बढ़ना है, उसी में नये सिरे से मूल्य डाल दिया है। श्रमिक की भाषा श्रम की न रहकर अर्थ की बन गयी है और आदमी को क्रमशः करके स्टेट का सर्व-सहाय बनाया जा रहा है।

शान्ति की समस्या उत्पादन के बढ़ जाने से या सम्पत्ति के निवर्तिक हो जाने से या विनिमय और वितरण के द्रुत और नियमित कर लिये जाने से उतनी सीधी-सम्पन्न नहीं है। कारण, इस ओर से मनुष्य में आत्म-निर्भरता और आत्म-गौरव का भाव नहीं जगनेवाला है। वह तो उपाय मुख्यता से इसमें है कि मानव-चेतना का भार केन्द्र धन से श्रम की ओर बढ़े और क्रमशः अवस्था वह आये कि श्रम ही एक धन हो जाय और उससे पृथक् मूल्य का कहीं अधिष्ठान ही न रहे।

इस दिशा में समझ बूझकर चेष्टा हो और सब देशों की उदासीनता पर भी एक भारत देश की राष्ट्रनीति उधर चले तो मेरी प्रतीति है कि अन्तराष्ट्रीय दबाव उस पर कम होना आरम्भ हो जायगा और विश्व-संकट भी कुछ ढीला होगा।

आज तो भारत के पूरब और पश्चिम दोनों तरफ पाकिस्तान है जिसके साथ सम्बन्ध मीठे नहीं हैं। परिणामतः देश की सारी इकॉनॉमी (अर्थनीति) इस दुश्चिन्ता के अधीन चलने को लाचार है। सेना और सैनिक का महत्त्व ऊँचा रखना होता है, सरकारी आय का बड़ा भारी भाग उसमें जाता है। श्रम की सार्थकता जैसे श्रमिक के पास न होकर सैनिक के पास हो जाती है, जिसका सीधा काम बनाना या उगाना न होकर बिगाड़ना और नष्ट करना है। सारी दृष्टि को हम तदनुकूल बनाना पड़ता है और उत्पादन से अधिक व्यय की महिमा बनती है। सैनिक व

सेना लेने और जरूरत पर उसकी जान लेने के लिए दूसरी दिशाओं में उसे भोग की सुविधा देनी होती, बल्कि भोग की आदत उसमें डालनी होती है। ऐसे जान-बूझकर गैरजवाबदारी से उल्टा यानी बर्बरता का क्रम चलाना होता है।

क्यों? क्योंकि अपना वक्त दूसरे के व्यवहार से लेने की भूल से हम आरम्भ करते हैं। कोई हमें दुश्मन मानता है तब हमारे लिए भी दुश्मनी की एक नीति रह जाती है, ऐसा हम मान लेते हैं। गांधीजी ने कहा कि ठीक इसी जगह अपनी गलती हम पकड़ लेनी चाहिए और साहसपूर्वक दूसरी नीति का प्रयोग कर चलना चाहिए। मित्र को मित्रता देने में क्या बड़ाई या क्या पराक्रम? शत्रु को मित्रता से जीतना है। शत्रु का सच्चा नाश इसी में है क्योंकि शत्रुता के बीज मिटते हैं और शत्रु स्वयं मित्र बनता है। 'पाकिस्तान कुछ भी करे तो भी क्या भारत भलमानसी से तरह देता चला जाय?'—गांधी की नीति ऐसी ही पोच थी और कांग्रेस उसी दब्बूपन से चल रही है, यही आरोप महासभाई मानो यह कह कर हिन्दू-पराक्रम को जगाना चाहता है।

पराक्रम तो ठीक, लेकिन पराक्रम हिन्दू बनकर क्या अहिन्दू को उसी के लिए ललकारता नहीं है? ऐसे स्थानी पराक्रम का घात और प्रतीघात करनेवाले परस्पर विरोधी पराक्रमों से विग्रह की ही सृष्टि होती है। युद्ध नहीं तो लड़ाई नहीं तो क्या है? इसलिए समय है कि अब एक ऐसे पराक्रम का उदय हो, जो अहिंसक और अनाक्रमणशील हो इसलिए जो सच है कि उसका रोग किसी सीमितता में नहीं है कि उसकी श्रद्धा असीम में है, जो सब कहीं है, इसलिए जिसमें शत्रुता के लिए स्थान नहीं है। वह अहिंसा आगे बढ़ रह सकता है, क्योंकि राष्ट्र ही है जो हिंसा तक रखता है। उधर आप सहित राष्ट्रवादों के घमासान में अगर कोई राष्ट्र समस्त मानव-जाति की ओर से इस मत का आरम्भ करे, इसलिए आध्यात्मिक पराक्रम का स्वरूप स्पष्ट करना जरूरी है। मरना तो सबको पड़ेगा, परन्तु ...है।

गाधीजी चले गये। उनमें घम घम से और कम घम न जुदा न था। लगता है कि उनकी परम्परा कहीं टूटकर खड-खड तो नहीं हो गया। गया तो नहा कि धर्म विनोबा में और कर्म जवाहरलाल म टिकने का रह गया और उन सिरों के बीच का गाधी-सूत्र कुछ क्षीण पड़ गया? ऐसा है तो शान्ति के लिए शायद मानव की ओर से आशा का स्थान कम है। लेकिन अगर ऐसा नहीं है और वह आत्म-सूत्र नाना को अभिन्न एकता में गूँथकर भारतीय जीवन म सक्रिय कर दे सकता है तो हम निश्चय रख कि उमडते काल बादल फट जायगे और भारत के भाग्य का आरुण्य के रूप में उदय होने से कोई न रोक पायेगा। तब एक प्रकाश जागेगा और एक नयी विश्व-संस्कृति का नवनिर्माण होगा।



३

युद्ध और भारतीयता

युद्ध के बाद की हिन्दी-कहानी के बारे में कुछ कहने को मैं राजी तो हो गया हूँ लेकिन सच यह है कि साहित्य काल से कटता है, ऐसा मुझको नहीं लगता। युद्ध से पहले साहित्य एक था और युद्ध के बाद उसको दूसरा होना होगा, यह बात समझ में नहीं आती। हजारों वर्ष पहले और हजारों मील दूर की कथा अगर हमारे मर्म को आज भी छू जाती है, तो मानना होगा कि कुछ है, जो देश-काल में बँटा नहीं है। साहित्य मानो उसी का प्रतीक है। यह नहीं कि वह बदलता नहीं या नये-नये रंग नहीं लेता। पर रूप और विधान-परिधान बदलता है, अन्तरंग नहीं बदलता।

यह तो नाप-जोख का आज का युग बना है, जो चलते इतिहास में जीवन-दर्शन की कड़ियाँ जोड़ता और खोजता है। काल के नियम से विभाजित करके वह हर चीज में विकास के सिद्धान्त की सिद्धि देख लेना चाहता है। मानव-बुद्धि का यह ढंग बहुत उपयोगी हुआ है। इससे ज्ञान विज्ञान निपजा है। लेकिन इधर उस एकान्त क्रम की अनुपयोगिता भी लग रही है। सत्य को मुट्ठी में कर ले, इसमें उतनी मानव की सार्थकता नहीं है, जितनी इसमें है कि वह अपने को सत्य के हाथ में दे दे। सत्य जानने से सत्य होना अनन्य हो यही परिपूर्णता है। इससे यद्यपि प्रतीत नहीं होता कि युद्ध विचार-सामग्री देने से अधिक साहित्य के सम्बन्ध में कुछ कर सकता है, तो भी यह उपलक्ष्य लेकर हम अपने को दर्शन-चिन्तन का अवसर दे सकता है। और यह इस समय के लिए जरूरी भी है।

युद्ध मानव-संस्कार को [illegible] रूप में [illegible] देता है। [illegible] के साथ

उन्हें अलग रायों में एकत्रित भी कर देता है। जो अन्यथा बिखरे रहते हैं, तीव्र विरोध भाव को लेकर वे परस्पर विमुख स्थिति के केन्द्रों में सुरक्षित इकट्ठे हो जाते हैं। यानी उसमें चेतना में भी फूट, यद्यपि शरीर में और मन में उनके हैं जिनके बीच खींचतान चलती है। अंग्रेजी के 'पोलराइज़ेशन' शब्द में यही भाव है। पिछला युद्ध तो लगभग क्या समूची मानव-जाति का हो था। मानव की जाति यों कितनी भी बिखरी हो, है तो अन्त में एक कुटुम्ब ही। अतः युद्ध यूरोप में छिड़ा, तो एशिया का तो कहीं का कोई मुल्क चैन से रह सका, सो नहीं। युद्ध का ताण्डव कहाँ नहीं मचा, इस देश को भी पिछले युद्ध के अशान्त युग ने घेर लिया था। लोक-चेतना [illegible] भावों से शून्य हो रही और साहित्य की राह वह शोर, जिसका प्रचार नाम दिया गया, उस पर ही उतरा और उभरा।

दुश्मन यों गिनती में दो होते हैं पर दुश्मनी में वे एक होते हैं। दोनों एक-सा पाते हैं, एक से शस्त्र, एक-सा दाँव और एक-सा उनका साहित्य होता है। झण्डे पर यदि चिह्न भिन्न होते हैं, तो कहानियों में भी उसी तरह नाम अलग हो जाते हैं। एक जगह राक्षस नाज़िज़्म है और वह जर्मन है, तो दूसरी जगह दानव कम्युनिज़्म है और वह रूसी है। तदनुसार कुछ दूसरे ब्योरों में फर्क है। शेष में एक है, ऐसा ही स्तर का बनना होता है। युद्धजनित साहित्य का यह लक्षण है कि उसमें आग्रह रङ्ग का है और अलग-अलग रङ्ग का, लेकिन आग्रह-भाव सब कहीं एक-सा है। इस प्रकार की प्रतिभा में व्यक्ति की निष्ठा टूट जाती है। मौलिक पात्र और चरित्र की अवतारणा कहानी में दुर्लभ हो जाती है। पात्र कठपुतलियाँ बनते तो परिस्थिति के हाथों में नाचते चलते हैं। तब साहित्य व्यक्ति के मन्थन की कीमत पर वर्ग का गौरव और महत्ता देने लगता है। सच में तो वह समस्या हल्के ढंग का दलगत प्रचार होती है। कहानी में [illegible] और [illegible] की जगह [illegible] और [illegible] चिह्न का आवरण [illegible] गया है और [illegible] [illegible] जाता है।

रोमांस की शक्ति घटी, यथार्थवाद उपजा। यथार्थवाद का ऊपर प्रकट फूल की सुन्दरता की ओर न जाकर जड़ों को, जहाँ खाद लगता है कुरेदता है। यह जरूरी काम था, मगर विज्ञान का काम था। पर कहानी का भी यह काम बना, मानो कहानी प्रवृत्त न होकर वैज्ञानिक बनी। सृष्टि थी नहीं, मानो कारीगरी का यह वस्तु हुई।

इस प्रकार बौद्धिक विश्लेषण और स्वच्छंद के रास्ते से कहानी धीरोदात्त नायक से चलित चित्त चरित्र तक आ गयी। मानो महत्ता सन्दिग्ध हो और क्षुद्र में ही महत्व हो। तब कहानियाँ लिखी गई जिनमें संयम पर व्यंग्य था, यथेच्छाचार पर स्पृहा। मन पुरातन में तब प्रतिगामिता दीख आयी और सब नूतन में प्रगति। परम्परा का इन्कार शान्ति का स्वीकार बना। युद्ध का यह अवश्यम्भावी परिणाम था। वर्तमान भावी तक उठे, इसके लिए आवश्यक समझा गया कि वह अतीत से टूटे। पूर्व की स्थिति छूटकर ही पश्चिम की उन्नति सम्भव दीखी। अनजानेक हिन्दी-कहानियों ने इस मुहिम को लिया। मन्दिर, ब्राह्मण साधु आदि संस्थाओं और संयम तप त्याग आदि मूल्यों की गर्हणा कहानी की उत्कृष्टता बनी।

विवाह की पवित्रता और परिवार की मर्यादा भारतीय समाज के मूल में घुले मिले तत्त्व हैं। इन संस्थाओं ने इतिहास के आक्रमणों के बीच भारत को थाम रखा है। लेकिन कहानियाँ लिखी गईं और कम संख्या में नहीं, जिनमें इन मर्यादाओं को गिरा देने की रुचि रहती थी। विवाह मानो विकास में और प्रगति में बाधक है और परिवार व्यक्ति को समाज में काटता है, क्योंकि वह एक सीमित स्वार्थ में उसे बाँधता है। ऐसी इन कहानियों का मन्तव्य था कि विवाह व्यभिचार का पोषक है और प्रेम के प्रवाह पर बाहरी अवरोध डालकर केवल समस्या उत्पन्न करता है। मानना होगा कि युद्धोत्तर काल में नाम लेकर समाजमान्य मर्यादाओं का बहुत आज्ञा देकर मैदान में आईं। आज और उनको रक्षा के प्रति उद्धोन

अपना दायित्व नहीं माना। बल्कि उन्होंने [illegible] आततायी के प्रति [illegible] कर्तव्य माना।

लेकिन युद्ध के बाद अब धीरे-धीरे हिन्दी-कहानी में कुण्ठा आ रही मालूम होती है। अब तक चलनेवाले विश्वास मानो [illegible] पड़ [illegible] हैं। जैसे नये सिरे से नयी श्रद्धा प्राप्त करने की आवश्यकता हो आयी है। मानो प्रचलित मूल्य काम न देते हों लेकिन असल और सनातन भी [illegible] हाथ न आते हों। दुनिया तेजी से बदल रही है और घटनाओं की गति द्रुत हो गयी है। क्षण भर में होकर कोई जा नहीं पाता है और मेरे दुनिया में टेलिफोन हर किसी को लाचार बना ही जाता है। नव रफ्तार और नया चाल-चलन के लोग हर मुल्क में आये दिन दीखते हैं और हवाई जहाज सब कहीं के लोगों को उठाकर यहाँ-वहाँ पहुँचाते रहते हैं। इससे राष्ट्रप्रेम कोई इतना ऊँचा आदर्श अब नहीं रह गया है। यद्यपि राष्ट्र का नाम मन से सहज नहीं छूटनेवाला है, पर सत्य और 'वैल्यू' के तौर पर राष्ट्र-निष्ठा भी हमारे हाथ से निकला जा रहा है। यह राष्ट्र [illegible] लेकर हम जीने और मरने का लक्ष्य पाते थे और दूसरे देश, जो हमारे [illegible] में नहीं देखकर सत्य मान [illegible] तक भेज देते थे अपनी शक्ति खो रहे हैं। 'प्रेम-शान्ति' नाम का अब कोई प्रश्न नहीं बची है—मानो 'हिंसा' शब्द ही प्रश्न समान है। डमोक्रेसी और सोशलिज्म और कम्युनिज्म अब वे शब्द नहीं रहे, जो स्फूर्ति जगायें। ये विवेचन के काम के हैं, बलिदान के नहीं। ऐसी अवस्था में यदि हिन्दी-कहानी का गात कुछ ठिठुरी लगती हो, तो विस्मय नहीं है। जो तो धरातल पर निकट रहे हैं और कहानी होना भर में अनिवार्य है। अन्तत देश से दो-सा तक कहानी गात का [illegible] होगी। अधिकांश उसमें मरनशील कहानी है। [illegible] कहानी की [illegible] हिन्दी में इस समय [illegible] है, यह नहीं कहा जा सकता। वह अभी नया [illegible] है और [illegible] में है। युद्ध के प्रश्न का [illegible] में भी समय [illegible] है। [illegible] में मानसिक [illegible] की आशा भी [illegible] जाए? [illegible] का भी काम है। [illegible] भारत में

लोक-राज्य की शोभा बढ़ानेवाली है। परिवार के बीच मुखिया बैठे हों, एक सरदार बैठे हैं। शानशान का दिखावा कहीं नहीं है। गांधी-परम्परा का पूरा पालन है।

फिर जो तोप हैं, उन पर ध्यान देने की क्या आवश्यकता है? वे तो परिस्थिति की मर्यादा की सूचक हो सकती हैं। नीति अहिंसा की है, पर परिस्थिति में हिंसा हो तो अहिंसा की नीति तोप को साथ लेने से डर नहीं सकती। मन में अहिंसा चाहिए, फिर बाहर हाथ में तोप-तलवार भी हो तो क्यों असम्भव है कि वह मन की अहिंसा की रक्षा के लिए न हो?

आदर्श से फिर काम नहीं चलता। यथार्थ को पहचानने की शक्ति चाहिए। यथार्थ की मर्यादा का उल्लंघन नहीं हो सकता। देश में हम शांति चाहते हैं, समाज की अहिंसक पुनर्रचना चाहते हैं। तो पहले दुश्मन से देश को बचाना और उन्नति के मार्ग को निष्कंटक करना होगा कि नहीं? वह इस तरह अहिंसा की दिशा का ही प्रबल क्यों न समझा जाय?—इत्यादि तर्क वर्तमान राज्याधिकारी का हो सकता है।

उस तर्क का उत्तर क्या है। निर्भयता यदि शस्त्र द्वारा ही आती है, तो शस्त्र के अभाव में भय आ जायगा। शस्त्र के अभाव को अहिंसा मानें, तो भय भी अहिंसक हो जाता है। इसलिए तलवार के विरोध में कोई तर्क नहीं दिया जा सकता है। कारण, भय को दूर करने के लिए शस्त्र आया है। भय को तो दूर करना ही है। यदि किसी भी ओर से निर्भयता नहीं आ सकती है, तो शस्त्र का आसरा लेना होगा और नीति का कोई भी उपयोग न होगा, न सहायक होगा, न अनुचित समर्थन स्वयं गायब हो सकेगा।

अतः प्रश्न यह नहीं है कि तोप सुन्दर और शोभित है और यह न हो। सिन्दूर की रेखा भी बहुत सुन्दर लग सकती है। अमुक परिस्थिति में वह इतनी महिमा-मण्डित हो सकती है कि वेदी पर देवता रूप में विराजी जाय।

प्रश्न है केवल यह कि हमारी श्रद्धा क्या है? और यह प्रश्न अमोघ है। इस बारे में थोड़ी भी चूक घातक हो सकती है।

अहिंसा एक समग्र नीति है। समग्र पर वह एक ... भी है। वह हर जगह काम आने के लिए है। वह धन है जो कभी हार या ... नहीं सकता है।

अब दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं। या तो हम उसमें विश्वास करते हैं या विश्वास नहीं रखते। श्रद्धा में बीच की स्थिति कोई नहीं है। या तो श्रद्धा है, या नहीं है। अहिंसा की श्रद्धा से हिंसा को जीवन में से ... नहीं हो जाता, लेकिन जो होता है वह यह कि उसको आत्म-समर्थन नहीं मिलता। सम्यक् दर्शन का यह एक बड़ा ..., बड़ी ... है।

आज की स्थिति संकटग्रस्त इसलिए नहीं है कि उसमें हिंसा अधिक है, बल्कि आज तो उन्नति और सभ्यता ही ... है। ... जैसी बर्बरता और नृशंसता नहीं है। सब चीज को ... कानून का और व्यवस्था का रूप मिला है। हिंसा भी पहले जैसी ... नहीं ... नहीं ... है।

संकट का कारण यह है कि दर्शन में से हिंसा ... की ... इस ... हो गयी है। दर्शन का ... को सामान मान कर उस ... में असावधानता को उचित मान लिया गया है। ... अहिंसा ... तत्त्व का प्रश्न है, अनिवार्य ... का प्रश्न नहीं है।

यह स्थिति घातक है। धर्म की, अर्थात् विवेक की, ... में प्रत्येक क्षण हम में आत्म-मंथन और आत्म-निरीक्षण चलते रहना चाहिए। ... की ... में ... से असावधान होना धर्म ... का ... है। ... का आरम्भ अगर हम धर्म के ... में ... डाल देते हैं, तो ... का यह ... ही हमें ... देनेवाला है। ... और ... के ... होनेवाली भी ... संकट का ... हो सकता है अगर उसके साथ सम्यक्-दर्शन का ... हम न मिल सके। ... रही से ... की ... में न ..., ... द्वारा ... किया है।

गांधीजी अभी हमारे ... हो गए हैं। ... और ... नहीं

कमटवा थी। प्रथम कोटि के धर्म प्रतिष्ठाता पुरुषों में उनकी गणना है। लेकिन जब धर्म के कूच का अवसर आया, तब ही तब धर्म चिन्तन की आवाज उन्होंने ऊँची की। युद्ध के अवसर पर गीता का उपदेश वृथा न था! कुरुक्षेत्र ही धर्मक्षेत्र है। जब करना सामने है, तभी का सोचना सार्थक है। ऐसे ही मन्थन में से धर्म की प्राप्ति और सृष्टि होती है। गांधीजी ने प्रत्येक कूच और प्रत्येक मोर्चे पर बढ़ने से पहले दिशा अहिंसा सम्बन्धी सूक्ष्म धर्म विचार को कांग्रेस कार्यसमिति के या अपने दूसरे साथियों के, सामने रखा। वही वह विचार अनिवार्य और अमोघ होता है।

राजनीति में हर महत्त्व के क्षण पर धर्मनीति की बात उठानेवाला गांधी जो आज नहीं रह गया है, इससे राजनीति अपने ही व्यूह में फँसी दीखती है। समूचा कर्म केवल एक दुश्चक्र की रचना करता दीख रहा है। कम एक तरह चक्र है कि जिसमें धर्म की सृष्टि न हो तो वह केवल संहार और युद्ध की रचना करेगा। धर्म की दृष्टि न हो तो वह केवल संहार और युद्ध की रचना करेगा। धर्म की दृष्टि डालकर हम उसी युद्ध क्षेत्र को धर्म-क्षेत्र बना दे सकते हैं। तब संग्राम को भी रूपान्तरित करके उसमें से त्राण की राह निकाल सकते हैं।

धर्म-कर्म का वियोग आज त्रास का कारण है। एक उनके संयोग में हो गया है। दूसरा चारा उपाय सम्भव नहीं है। आज के अखबार का चित्र उस संयोग का चित्र नहीं है, वह उसका भिन्न व उपहास है। बाप के मुँह के तीर का खादी अहिंसा की भाषा रहा है। उस बाप से बुनता हुआ खादी पहिननेवाला होता, तो उस खादी का मैं सम्मान करता था। अन्यथा हिंसा के पेट में दुबककर रेंगनेवाली अहिंसा याद नहीं चीज नहीं है। उसे मन से लोग जानते हैं और उससे किसी को कुछ आना नहीं है।

हम तो यहाँ तक मान सकते ध्यानपूर्वक रह रहे हैं, तो सचमुच ही खादी उतनी सही प्रतीत हो सकती है। खादी उसका रूप और आदर्श, जिसमें आत्मा-चेतना नहीं है, उसका मानी रूप हो सकता है। लेकिन बाप तो

तानाशाह तानता है। लोकशाही और तानाशाही सिर चहरे नहीं हैं कि सुविधा से बदले जा सकें। पर आज ऐसा ही मालूम होता है। लोकशाही अपने भीतर से तानाशाही के लिए तैयारी करती हुई देखी जाती है। एक यहाँ नहीं सब कहीं ऐसा है। इसलिए शब्दों के आल-जाल से नीचे रोग के बीज को पकड़ने की जरूरत है। अन्यथा किया कराया सब चौपट होगा और लोकशाही तानाशाही का आसन बनकर रह जायगी।

आज जैसे विश्व की सभ्यता और उसका विधान अनी पर खड़े हैं, उनको कसा और परखा जा रहा है। केवल सदियों का समर्थन होने से कोई चीज खरी जानेवाली नहीं है। खरी होने पर ही वह टहरेगी, अन्यथा फेंक दी जायगी। बड़प्पन, बड़े शब्द, बड़े वायदे, बड़े नक्शे अब मानवता को अधिक काल तक रोक नहीं सकेंगे। राज-नेता का धन्धा अविश्वास की वस्तु बन उठा है। शासन और शासक आतंक की वस्तु भले हों, अब हृदय के आदर का पात्र वह नहीं रह गया है।

गाधी ने गम्भीर और आन्तरिक एक क्रान्ति जो कर दी है, उससे अब शासक प्रत्यक्ष में जब तक सेवक नहीं बन पायेगा, तब तक वह अपने को सुरक्षित भी अनुभव नहीं कर सकेगा। गाधीजी ने जीवन के प्रकृत मूल्य को हमें दे दिया है। बता दिया है कि शहर की सभ्यता के कंगूरे पर बैठा समृद्ध नेता केवल अभिनेता है। केन्द्र वहाँ नहीं है, न मूल्य वहाँ है। वहाँ केवल माया है, जिसने मन को मोह रखा है। उस मोह पर ही राजशाही और साम्राज्यशाही चला करती है। उसकी रक्षा के लिए युद्ध होते हैं और उसकी मोहनी डालकर युद्ध के लिए ईंधन जुटाया जाता है। नहीं, केन्द्र है वहाँ जहाँ श्रम का पसीना धरती में डालकर अन्न उगाया जाता है जो हमारा पोषण करता है। शासन समझा जानेवाला काम न ऊँचा है, न आवश्यक है। इस माया मोह ने ही उसको महिमा दे रखी है और श्रमिकों का श्रम उसे ऊँचा उठाये रखने के काम में चूस लिया जाता है। यह सब किस तरह से सिक्के के जादू से होता है उस सिक्के के तिलिस्म को समझना लगभग असंभव बना दिया गया है।

इसलिए जरूरी है कि जीवन की प्राथमिक बातों का आधार बनाकर व्यर्थ शब्द का आडम्बर हम न रचें। कर्म में से धर्म के विचार को निकालकर फेंकें नहीं, वरन धर्म में से कर्म की प्राप्ति करें। अन्यथा आकांक्षा जगाकर उस जोर से जो कर्म की सृष्टि होगी वह हमें ही खा जायगी। रुपये से चलनेवाली सरकार और उस जोर से होनेवाले काम ऐसे ही आत्मघातक होते हैं। वे सदा अधिकाधिक रुपया माँगते हैं और समाज में तनाव डालते हैं। सरलता उसमें घिसती और कुटिलता पनपती है।

कर्म को धर्म के ऊपर रखने पर फिर धन का मन के ऊपर दबाव न होना असम्भव है। सरकार आज उसी रुपये को ऊँचा उठाकर उसी की छड़ी को मान बनाकर चल रही है। वेतन की ऊँचाई के माप में व्यक्ति की योग्यता समझी जाती है। इसलिए व्यक्ति की निगाह व्यक्तित्व पर नहीं वेतन पर है। ईमानदारी नहीं, तिकड़म वहाँ की नीति बनती है।

अब समाज एक है। सरकार में जो मान चलता है, उसी की समाज में प्रतिष्ठा होती है। वहाँ मान ऊँचे वेतन का है, यहाँ भी धन-दौलत का है। मूल में मान वह रखकर भ्रष्टाचार और घूसखोरी को रोका या मिटाया जा सकता है, यह थोथी कल्पना है। रिश्वतखोरी का फल बिना डंठल के पेड़ पर नहीं लगता। रुपये की माया में जाँचना और नापना स्वयं वह डंठल है। मूल वही रखा, तो लगनेवाला फल बदल नहीं सकता।

केवल कर्म, फल और उसके परिणाम को सामने रखकर होता है। अर्थात् उसमें आसक्ति और आकांक्षा है, उसमें स्वार्थ और लाभ की दृष्टि है। प्रेरणा वहाँ आर्थिक की है।

लेकिन धर्म स्वयं कर्म को ही प्रेरित करता है। वह उसको कर्तव्य का रूप देता है। फल-कामना से वह कर्म को मुक्त करता है। परिणाम में कर्म से सामाजिक संघर्ष और वैमनस्य उपजने की सम्भावना कम होती है। हीन हाल के नाते जल्दी और पन्द्रह-पाँच करने के लिए हठात् वराम्

लेकर किसी को शासक और व्यवस्थापक बनने का मौका भी कम होता है।

मूल में इस दृष्टि को नहीं रख सकेंगे तो जाने-अनजाने अपने सिरों पर हम एक अधिनायक को ला ही बिठायेंगे।

यदि उस सम्भावना को हम अनिष्ट और मानव-जाति के लिए लज्जा-जनक समझते हैं तो मूल की ओर हम जाना होगा। देखना होगा कि हमारा उत्पादन और वितरण और उनके आधार पर बननेवाले हमारे सम्बन्ध क्या हैं और क्या उन्हें होना चाहिए ? अगर इन सम्बन्धों में हिंसा और शोषण है तो अन्त में ऊपर अधिनायक का आना ही होगा, जो छत्र को और दंड को लेकर हम पर शासन करेगा। तस्वीर की तोप के मुँह की तरह उसकी बाँहें ऊपर होंगी और उसकी छाया के नीचे बैठकर हम खादी पहनेंगे और शान्ति चखेंगे।

ऐसा यदि नहीं होना है और नहीं होने देना है, तो मूलगत दृष्टि को स्पष्ट अपने मन में बिठाना और स्वयं उस पर आरूढ़ होना होगा।

जगह-जगह से सुनता हूँ कि कम्युनिस्ट दर्शन तो ठीक है, कम्युनिस्ट उपद्रव ठीक नहीं है। मुझे लगता है कि कम्युनिस्ट उपद्रव और कम्युनिस्ट पोचों की तो कोई चिन्ता ही नहीं है। उनमें रत्तीभर शक्ति नहीं है। लेकिन दर्शन के रूप में कम्युनिज्म हमारे मन में जगह पा सकता है, तो निश्चय है कि सिर पर एक रोज उसका अधिनायक भी सवार होगा। कारण, यह दर्शन नहीं है, धर्म नहीं है, अकर्म नहीं है। वह प्रोग्राम है, वह कर्माग्रह है। धर्म की सिद्धि यहाँ कर्म में है और दर्शन का फलित भी कर्म में है। ऐसा कर्मवाद अगर हमारी श्रद्धा में बैठ सकेगा तो हम एक दिन कल के पुतले (ऑटोमेटन्स) होंगे और चाबुक लेकर कर्म-कारखाने का मैनेजर अपने अधिकार की जमात लेकर हमसे कर्म वसूल कर रहा होगा। कर्म जब तक धर्म-प्रेरणा से कर्तव्य (अर्थात् अकर्म) के रूप में हमारे द्वारा नहीं होगा, प्रत्युत आकांक्षा में आग्रहपूर्वक फल-भोक्ता बनकर हम उसे कर रहे होंगे, तब तक निष्फल राजनीतिज्ञों की पार्टियाँ आपस में

खींचतान और कोलाहल मचाती हुई, अदल-बदलकर हमारे ऊपर स्टेट के नाम पर शासन करने का दंभ रचती ही रहेंगी।

अहिंसा वह नीति है जो समाज को ऐसी आन्तरिक और सहज सुव्यवस्था तक ले जायगी जहाँ शासन को अतिरिक्त परिग्रह के रूप में टिकने की आवश्यकता न होगी। व्यक्ति स्वेच्छा से श्रमिक होगा। अत वह स्वतंत्र होगा, सहानुभूतिशील और सहयोग परायण होगा। संक्षेप में व्यक्ति नैतिक नियम से चलेगा और समाज 'स्टेट विहीन' होगा।

किसी भी दूसरी पद्धति या तर्क से चलकर हम उस अवस्था में भटके बिना न रह सकेंगे, जहाँ व्यक्ति केवल एक होगा और वह अधिनायक होगा और व्यक्तिशाली केवल एक दल होगा और वह शासक दल होगा शेष सब मनुष्य केवल अंक और औजार होंगे।

अहिंसा का नाम हमें विभीषिका से बचा न सकेगा। अहिंसा का काम ही उस दुस्सभावना के स्थान पर हमारे लिए एक उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकेगा।

कांग्रेस को और कांग्रेसी सरकार को इस विश्वास के प्रकाश में अपने को कसना और संभालना आवश्यक है।



६

अपरिग्रह

१

खप छोडो

धर्म वह जो धारण करता है। उत्पत्ति को, विनाश को और उन दोनों में युग युग को वही धारण किये हुए है। अणु-अणु के साथ और पिंड ब्रह्माण्ड के साथ जिस सूत्र के सहारे अखिलता में पिरोया हुआ है वह है धर्म। स्थिति में गति और गति में स्थिति यदि सम्भव है तो धर्म के कारण। जो है उसके होने में कारण-तत्त्व धर्म है।

इससे जो धर्म से छुट्टी चाहते हैं वे धर्म शब्द से नाराज हो सकते हैं, पर धर्म-तत्त्व से छुट्टी कभी किसी को मिल नहीं सकती। यहाँ तक कि नास्तिक अनजान नास्तिकता को अपना धर्म बना बैठता है। पश्चिम का उपयोगवाद और समाजवाद चर्च से या स्व मन्दिर से छुटकारा पा देते पर वह भूलता है यदि मानता है कि इस तरह धर्म से ही वह छूट जाता है। मंदिर, मस्जिद और गिरजे को तोड़कर उसकी जगह पाठशाला या अस्पताल बना देने से धर्म नहीं टूटता, केवल एक देवता की जगह अन्य स्थान में दूसरे देवता की ही प्रतिष्ठा कर दी जाती है। पश्चिम का नया धर्म है शासन धर्म। उसका देवता है स्टेट। उस स्टेट-देव की पूजा में जो आहुति पड़ी उतनी बलि युग-युगांत में दूसरे किसी देवता पर नहीं चढ़ी होगी। पर इस आधुनिक देवता को युद्ध रूपों में कितना प्रभूत नर रक्त का अभिषेक मिला और कितने अनगिन नरमुण्डों की अर्चना, इसका हिसाब नहीं है। भाषा के फेर में असलियत में फेर नहीं पड़ जाता। इसलिए धर्म शब्द पर रोष करने की आवश्यकता नहीं है। धर्म नहीं मिटा, नहीं मिट सकता, इसका सीधा कारण यह है कि ज्ञात हुए परिणामों के मध्य यह सूत्र है। वह उस चिन्मय सिद्धान्त का नाम है जो मानव की अभिव्यक्ति और उसके विकास को साधता है।

बीच-बीच में जो सुधार के या विनाश के आन्दोलन हुए वे धर्म को नहीं, धर्म के अपलाप को, उसके व्यभिचार को सुधारते या मिटाते थे। असल में वे उन समयों में प्रचलित लोकरूढ़ धर्माभासों के बीच सत् धर्म को प्रतिष्ठित करने के हेतु से हुए थे।

ऐसा जो धर्म उसी की महिमा हमारे शास्त्रों में जगह जगह गायी गयी थी। जहाँ धर्म है वहाँ क्षेम है। धर्म मंगल है। धर्म के कण से धर्म का पहाड़ टलता है। धर्म की रक्षा का हाथ जिस पर है वही सुरक्षित है। इत्यादि।

मेरे लिए सचमुच धर्म से गहरा शब्द दूसरा नहीं है। हमारे जीवन में कई स्तर हैं। हमारी भाषा के अधिकांश शब्द उसके व्यावहारिक स्तर से नीचे नहीं जाते। वे नित्यप्रति के स्थूल व्यापार तक ही संगत हैं। जीवन मर्म उनके सहारे छुआ नहीं जा सकता। किन्तु धर्म शब्द स्थूल व्यवहार से शुद्ध अध्यात्म तक सब स्तरों में एक-सा व्यापक है। मूढ़ वनचारी काले पत्थर पर सिन्दूर पोतकर अपना धर्म का काम चला लेते हैं। दार्शनिक दया से भी बारीक बारीकियों में उतरकर धर्म की थाह नहीं पाते। यही मेरे निकट उस शब्द की विशेषता है। वह सब को सुलभ है फिर भी अगाध पाण्डित्य के बल से भी उस शब्द की सम्भावनाओं का चुकाया नहीं जा सकता। इसी से उसकी जगह दूसरा कोई शब्द स्वीकार करने में मुझे जिज्ञासा है। पश्चिम से कई 'इज्म' चले हैं और नये-नये भी निकलते जाते हैं। धर्मोपपादन के लिए नयी-नयी संज्ञाएँ गढ़कर देते रहते हैं। कोई धर्म की जगह ह्यूमेनिटी (Humanity), कोई यूटीलिटी (Utility), कोई फ्रैटर्निटी (Fraternity), कोई लिबर्टी (Liberty), विश्वबंधुत्व (World Brotherhood) आदि-आदि संज्ञाओं को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। मेरे मत से इन शब्दों में समाई थोड़ी है। ये अधूरे हैं, अधूरा पड़ते हैं और बहुत जल्दी उनको किसी विशेषण के सहारे थामने की जरूरत हो जाती है। ये शब्द हमें एक-दूसरे से जोड़ते भी हों, समष्टि के साथ उनके सहारे योग बनना नहीं हो सकता। व्यक्ति समष्टि

के प्रति जिस अभिन्नता का संवेदन भीतर लेकर जन्म पाता है वह धर्म से नीचे किसी और शब्द से व्यक्त नहीं हो सकती।

इस तरह यदि मैं कायल हूँ तो एक शब्द का और वह है धर्म। लेकिन जहाँ कोई नास्तिकता नहीं पहुँची वहाँ गीता की यह पंक्ति जाती है

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'

धर्म नहीं छूट सकता, फिर भी गीता ने कहा कि उसको भी छोड़ दो। किसके लिए छोड़ दो? मेरी शरण में आने के लिए। 'मैं' कौन? 'एकम्' जो एक हूँ। सब (धर्मों) को छोड़ो, एक (मुझ) को लो।

धर्म के विवेचन के बीच गीता की इस पंक्ति को कभी नहीं भूलना होगा। इस पंक्ति के सार को भूलकर धर्म को पकड़ने से अधर्म हाथ लग सकता है।

हम तो जानते थे कि जो अनिर्वचनीय है, जो एक है और सर्वव्यापी है, धर्म जितने हैं उसी की राहें हैं। पर गीता ने कहा कि उन्हें भी छोड़ने को उद्यत रहो। मुझे पाना है तो उन्हें छोड़ना होगा।

ध्यान रहे कि यह नास्तिक का वचन नहीं है। नास्तिक का साहस यहाँ तक पहुँच नहीं सकता। वह बेचारा तो अपनी नास्तिकता के धर्म से बँधा है। गीता का यह वचन मुक्त पुरुष का वचन है। और उसमें जो सत्य है वह इन्हीं शब्दों में आ सकता है, क्योंकि वह मायातीत है।

आज जब कि पश्चिम से शंका का प्रबल झोंका आया है, जब अहङ्कृत बुद्धि सब आदर्शों को चीर-फाड़कर श्रद्धा को असम्भव बना देना चाहती है, तब धर्म के माननेवालों को जैसे चुनौती ही दी जाती है। पश्चिम को उन्हें जवाब देना होगा। जवाब तर्क का काफी नहीं होगा। क्योंकि तर्क से तो शास्त्र भरे पड़े हैं। और पश्चिम उन सब शास्त्रों को अपनी आलमारी में बन्द दिखला सकता है। जवाब इसलिए जीवन से ही दिया जा सकता है। और मैं मानता हूँ कि जो सच्चा धार्मिक है, यानी 'मामेकं' के प्रति जिसका समर्पण सम्पूर्ण है, उसका जीवन पश्चिम को चुप करानेवाला जवाब हो जायगा।

गीता की यह वाणी कि सब धर्मों को छोडो और मुझ लो, प्रबल-से प्रबल सन्देहवादी को भारी पड सकती है। वह इसको नहा पचा सकता। वह तथा-कथित सन्देहवादी और बुद्धिवादी असल में अपने माने हुए मत विश्वासा स चिपटा हुआ है। गहराई से देखा जाय तो वह अपने मोह में कहीं अधिक अध है। वह श्रद्धा नहीं है इसी से उसे मोह कहना पडता है। वह तो ईश्वर विश्वासी ही है, जा अपने को अथाह म छोडकर यह सकता है कि म कुछ नहीं मानता क्योंकि मैं उस एक को ही मानता हूँ। वैज्ञानिक सत्य की अथवा आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि के लिए यदि कोई व्यक्ति अधिकारी और समथ हो सकता है तो वही जो कह सके कि म सब छोड दूँगा ला, मने सब छोड दिया! यह शक्ति अपने को बुद्धिवादी, शकावादी कहनेवाले लोगों में हो कैसे सकती है? असल म वे अमुक मतवादी ही नहीं होते प्रत्युत अनजान में उस मत को अपनी कट्टरता म 'पथ' बना लेनेवाले होते हैं।

यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। गीता में धम का छोडने के लिए नहीं कहा, धर्मों को छोडने के लिए कहा है। वहाँ बहुवचन का प्रयोग है। यानी अमुक नामा से चलनेवाले अथवा अमुक वर्गों द्वारा माने जानेवाले जो अनेक धम प्रचलित हैं व अपने आप में साथ और इष्ट होकर भी एक स्थिति म जाकर मानो पीछे छूट रहनेवाले हैं। जिसमें द्विधा है ही नहीं उस एक धम की राह म, द्वैत और अनेकता पर चलनेवाले अनेक धर्मों को बीच म ही छूट जाना होगा। गीता के मन का यही अभिप्राय है।

मैं मानता हूँ कि जाहिरा जो धम क नाम पर निसमता, अनबन और कलह देखी जाती है, उसम नाम ही धम का है। असल में तो उसके भीतर कारण राजनीतिक होते ह। राजनीतिक ध मतलब स्वाथ प्रेरित। क्योंकि धम में तो सब स्वाथ का विसर्जन हो जाता है। गीता म ही नहीं सब धर्मों म एसे वाक्य मिल जायेंगे। परन्तु फिर भी यदि धम के नाम पर गिरोह-बन्दी और वैमनस्य मिले तो जान लेना चाहिए कि मूल धमा

देवों के प्रति असावधानी ही उसका कारण नहीं है, बल्कि गहरे में दुबका हुआ कहीं निश्चित स्वार्थ ही उसमें कारण बना हुआ है। जिसके सहारे गुट या गिरोह बाम कर रखे जाते हैं, गीता में ऐसे नामधारी धर्मों को ही छोड़ने के लिए कहा गया है।

सच यह है कि प्रभु एक है। उसका परम पिता वह तो भी उसकी निकटता हम पूरी तरह जतला नहीं सकते। वह भीतर रमा हुआ है। वह घट घट व्यापी है। वह पिता है, माता है, बंधु है। जो कहा उसके लिए थोड़ा है। वह एक है, क्योंकि वह कुल है। उसके सिवा प्राणी को कुछ और नहीं पाना है। उसको पाना भी भाषा की अपूर्णता के कारण कहना होता है। वह अलग भी नहीं है कि उसे पाने कहा जाना हो। सच पूछिये तो उसमें स्वयं खो जाना है। वह एक ही साथ परमात्म-लाभ है। आत्मा तो दो हैं नहीं। इस तरह शेष में अपने को पाना और अपने में शेष का देखना, यही परमात्म प्राप्ति की साधना है।

मेरे निकट तो यह स्पष्ट है कि किस तरह इसी साधना के वृत्त में समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा, मानव-सेवा इत्यादि सामयिक और ऐहिक सब कर्तव्य अनायास समा जाते हैं। यह साधना लौकिक कर्म से विमुखता नहीं बतलाती, प्रत्युत लोककर्म की दक्षता देती है—

'योगः कर्मसु कौशलम्'

किन्तु योग में कर्म-सुकौशल अपने आप में इष्ट नहीं है, वह तो उसका अनायास प्राप्त फल है। योग में यदि व्यक्ति की ओर से चाह है, तो वह सीधे समाज के राष्ट्र के या मनुष्य के प्रति नहीं है बल्कि समग्रता और एकाग्रता के साथ परमात्मा के प्रति ही है। इधर में कौन-सा समाज, कौन-सा राष्ट्र, कौन सा इतिहास ऐसा है जो समाया हुआ नहीं है। सचराचर जगत् सब उसकी झाँकी ही तो है। हाँ उस कल्पनातीत विराट् के समक्ष वह झाँकी अत्यन्त स्वल्प है। और सचमुच जितना कुछ हम जानते हैं, जान सकते हैं, कल्पना में ला सकते हैं, कुछ उससे बाहर नहीं, उसी का अंग है। इसलिए धर्म की भाषा यह नहीं कहती कि समाज के लिए

मरो, दया के लिए मरो, यह तो कहती है कि यज्ञार्थ जीओ। अर्थात् यज्ञ के लिए तो तुम हो ही, और कुछ सम्भव ही नहीं है। पर उस यज्ञ के समर्थन के लिए समाज या राष्ट्र या विश्व को क्यों अपने अहंकार की बुद्धि से खींचकर लाते हो। यज्ञ का धर्म तो मैंने ही तुम्हें दिया है। मैंने जो तुम्हें जीवन दिया है, उसके पीछे तुम्हें विश्राम देने को मेरी भेजी मौत भी आ ही रही है। सो इस तरह मेरे हाथों आज भी तुम मरने के लिए ही उद्यत हो रह हो। पर वह मरना नहीं, मुझ में तुम्हारा लौट आना है। इसलिए तुम्हारा इसके सिवा कुछ भी और काम नहीं रह जाता कि तुम मेरी ही याद में जीओ कि मुझ में खुशी से लौट आओ।

हमारी लौकिक बुद्धि, तर्क बुद्धि, शायद इस बात को नहीं समझ सकती। उसे बलिदान के लिए छोटे-मोटे नारे चाहिए। राष्ट्र चाहिए, इनकलाब चाहिए। यज्ञार्थ जीवन अपने-आप में कम समझ में आता है मानो हार समझ में आ जाया करती है। पर लौकिक बुद्धि का भी इसमें दोष क्या दें, वह अपने बस तक ही चल सकती है। वह धर्म की भाषा को समझ की भाषा से बदलना चाहती है। वह अपने लिए ऐसा कर सकती है—यानी सामयिक आदर्शों की भी उपयोगिता है। पर प्रयोजन की भाषा से अनुभूति की भाषा जब कि भिन्न होती है, तब उतनी गहरी और सच्ची भी होती है। धार्मिक रहस्यमयी भाषा तो लगने पर उसमें गम्भीर और प्रचुर अर्थ भरा रहता है। यह इतिहास के युग युग में जातियों और संस्कृतियों का प्रेरणा देती है। यह तो मानव जाति की अक्षय थाती है। इसको समझ में न बँधने पर भी उसे श्रद्धा से स्वीकार ही करना पड़ता है।

धर्म की वाणी स्वरूप से अरूप, स्थूल से सूक्ष्म, पदार्थ से आत्मा और जगत् से ईश्वर की ओर चलती है। हम जिन कई धर्मों को अपनी दुनिया में जानते हैं—जैसे हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम-धर्म—ये भिन्न भिन्न रूप में अलग काल, परिस्थिति और देश में उस निराकार सर्वव्याप्त के आराधन के प्रयास हैं, जो मानव-जाति के अन्तःकरण में

बहुत गहरे में बसा हुआ है। विविधता देश और काल की पृथक्ता के कारण उनमें आया, पर वह एक ही सबका लक्ष्य होने से उन सब में अन्तर्गत एक-सूत्रता भी है। पर जहाँ उन सब में आधार हुआ वह सूत्र दिखाई न दे वहाँ व्यक्ति क्या करे? इसके लिए गीता ने कह ही दिया— इसको भी छोड़, उसको भी छोड़, और दोनों जिसके लिए बने हैं उस 'मुझ' को ले। यह 'मुझ' है, परमेश्वर। दर्शन की भाषा में उसे ही कहें परम-सत्य। और गीता की इस नीति को मैं अपनी ओर से संज्ञा दूँ तो वह है, अहिंसा।



• २ •

दिगम्बर

मनुष्य आता है तो वस्त्र साथ नहीं लाता। जाता है तब भी वस्त्र उसके साथ नहीं जाते। वस्त्रों का उपयोग इसके बीच के काल के लिए ही है।

वस्त्र का समर्थन दो प्रकार के कारणों से है, एक दैहिक दूसरा सामाजिक। वस्त्र सर्दी-गर्मी से हमें बचाते हैं और लज्जा ढँकने के काम आते हैं।

दैहिक कारण का जहाँ तक सम्बन्ध है वस्त्र की उपयोगिता सापेक्ष है। सर्दी गर्मी तो ऋतुप्रभाव से आते ही हैं। फिर भी शीत से बचने के लिए किसी को कम और दूसरे को ज्यादा कपड़ों की आवश्यकता होती है। पशु-पक्षी बिना कपड़े के ही काम चलाते हैं। जंगली लोग या जंगली अवस्था में सभ्य लोग छाल और खाल से काम लिया करते थे। उनके शरीर की सहिष्णुता और अनुकूलता अधिक थी। पशु-पक्षियों का शरीर ऋतुओं के प्रति अनायास भाव से अधिक सहिष्णु है और प्रकृति उन्हें इसमें मदद देती है। मनुष्य में शनैः शनैः देह की इस क्षमता का ह्रास होता गया है। ऋतुओं को अब वह अपने खुले तन पर सहन नहीं कर सकता। धूप और हवा से बचने के लिए उसे वस्त्र की आवश्यकता है।

इसी को दूसरी भाषा में सभ्यता का विकास कहते हैं। उस विकास के साथ देह का ह्रास हुआ है। मनुष्य, कहते हैं, इस विकास में उत्तरोत्तर सामाजिकता प्राप्त करता गया है। और सच पूछिये तो वस्त्र की आवश्यकता के पीछे दैहिकता उतनी नहीं जितनी कि सामाजिकता कारण है। ऋतु तो नग्न तन पर सह भी ली जाय, पर सभ्यता तन को नग्न नहीं रहने

देती है। वस्त्र इस तरह सर्दी गर्मी के लिए, श्रम और सभ्य व्यवहार के लिए ही अनिवार्य आवश्यक है।

यों भी दीखता तो यह है कि आज की सभ्यता मुख्यतया वस्त्र पर टिकी है। वर्दियाँ अपने सामाजिक उच्चता के लक्षण माने जाते हैं। वस्त्र में कीमत टाँकने के लिए सोने और चाँदी के तार बिने जाते हैं, चाहे उनका स्पर्श तन को तनिक भी सुखकर न होता हो।

इस वस्त्रमयी लौकिक सभ्यता को गहराई से समझना चाहिए। तब जान पड़ेगा कि उसकी जड़ में दीनता है। वहाँ सामाजिकता की सिद्धि नहीं, बल्कि शोषण की वृद्धि है।

सामाजिकता निस्सन्देह व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है। मिल-जुलकर ही यहाँ काम चल सकता है। सहयोग यहाँ अनिवार्य है। व्यक्ति एक पैदा हुआ है, पर इसलिए कि यथासम्भव किसी के भी प्रति वह दूसरा न रहे। तभी सूत्रकार ने कहा— परस्परोपग्रहो जीवानाम्। एक दूसरे के काम आना जीव का लक्षण है। मनुष्य के इस स्वभाव में से सामाजिकता को जन्म मिला।

इस सामाजिकता के उदय के साथ वस्त्र का उदय हुआ। पशु-पक्षी वस्त्र की आवश्यकता से मुक्त हैं, क्योंकि उनमें उत्कट सामाजिकता नहीं है। उनमें लज्जा और मर्यादा की भावना ही नहीं है। वे स्वच्छन्द हैं। मनुष्य मर्यादाशील प्राणी है। उसका समाज है, जिसमें श्रेणियाँ हैं, छोटे-बड़े हैं, मान-सम्भ्रम है। मनुष्य समाज में सबके अधिकार बराबर नहीं हैं, वय व भेद से उनके अधिकारों में भी भेद है। उनमें परिवार भावना है और सम्बन्धों में वात्सल्य और पवित्रता की कल्पना है। विद्यारम्भ से उनमें गुरु-शिष्य का भेद है और एक चरण छूता, दूसरा माथे पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद देता है।

यह जो मर्यादाशीलता का उद्भव और विकास है, यही क्या मनुष्य जाति की विकसित संस्कृति और सभ्यता नहीं है? इसी के साथ वस्त्र की संस्था ने विकास पाया है।

इस दृष्टि से वस्त्र के विरुद्ध कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वह लोक जीवन के लिए अनिवार्य है। उससे मर्यादा शील्टा और शुचिता का रक्षण होता है। यह वासना पर आवरण है। पर नहीं, वस्त्र यहीं तक नहीं रहा है। वासना को रोकने नहीं, दिखाने या बढ़ाने तक का साधन वह होने लगा है। वस्त्र की समस्या इधर आकर तो अब रोग की गाँठ ही हो पड़ी है। कारण है मेरी समझ में हम मनुष्यों का समाज को अपनी परिधि मान रहना और समष्टि-दृष्टि को भूल बैठना।

समाज को परिधि मानकर चलना मेरी दृष्टि में भ्रांत है। मेरा मानना है कि उसके कारण हमने बहुत रोग अपने बीच पैदा लिये हैं और सभ्यता अपनी मौलिक आवश्यकता से दूर पड़कर इतनी कृत्रिम होती जा रही है कि वह पागलपन बन उठी है। आवश्यकता है कि उस सभ्यता को फिर अपने मूल आदर्श से जोड़ा जाय और उसे स्वस्थ किया जाय।

समाज में मान और मान्यता प्राप्त करना यदि उन्नति का लक्ष्य हो तब तो वस्त्र को आवश्यक रूप से इसका साधन बनाया ही जायगा। तब मनुष्य की चेष्टा वस्त्र की समस्या को जटिल बनाने में लगेगी। यहाँ तक कि वह एक समस्या और शोषण का केन्द्र बन रहेगी। लोग हर क्षण नया फैशन निकालेंगे और बीते क्षण का फैशन पुराना पड़ जायगा। नतीजा यह होगा कि लोग उस दौड़ में घर-भर का ढेर पास रखकर भी यह संतोष न रख सकेंगे कि वे काफी आधुनिक हैं। हर कपड़ा क्षण चलने के साथ पुराना पड़ता जायगा और नये की माँग होती जायगी। डिजाइन और वस्त्र के नये-नये आविष्कार होंगे और जाने कितने न लोगों की बुद्धि इसी में लगी रहा करेगी। इसके कारण दूसरी ओर वस्त्र का अकाल होगा और लाल और अंत में तन ढकने का भी वे नसीब न पायेंगे।

यह चमक-दमक की आसुरी सभ्यता होगी और यहाँ वैभव के शिखर आसमान को चूमना चाहेंगे, हीरे मोती और सोना-चाँदी से महलों का मन जायगा कि उधर अनेक नंगे रह, जिन्हें रहने को घर और खाने को कौर न हो।

यह सभ्यता आदमी को परिग्रह के संचय में मुग्ध दिखायेगी और अन्तरस्थ सहानुभूति और अहिंसा की भावना को चूसती जायगी। मनुष्य तब अपने स्वार्थ में रत होकर शोषक बनेगा और अपने को सभ्य मानेगा।

सामाजिकता को अन्तिम समर्थन और उसी को चरम धर्म मानकर चलने में यह खतरा है ही। भौतिक दर्शन उसी में हमें ले पहुँचता है। अगर दीखनेवाला पदार्थ ही सच है तो उसका भोगोपभोग जीवन का चरितार्थ बनता है। तब पदार्थ मात्र भोग्य होता है और मनुष्य उनका भोक्ता ठहरता है। इस वृत्ति में से स्वार्थ का महत्त्व मिलता और समस्त आडम्बर का संचय होता है।

किन्तु मैं मानता हूँ कि सामाजिकता से घिरी इस वृत्ति में सच्ची सामाजिकता का बीज नहीं है। समाज में उससे विषम ग्रन्थियाँ पड़ती हैं। विरोधी स्वार्थों को लेकर उनसे वर्ग, समूह और सम्प्रदाय बनते हैं जो अपनी अहन्ता में दूसरों से स्पर्धा ठानते हैं। इससे विग्रह और विस्फोट को जन्म मिलता है।

वे लोग जो लौकिकता की परिभाषा में ही धर्म को देखते हैं जाने अनजाने इस स्वार्थ विग्रह की आँच में ईंधन पहुँचाते हैं। अतः आवश्यकता है कि उस आत्म को हम सदा स्मरण में रखें जो समाज पर आकर नहीं रुकता, आगे समष्टि तक जाता है जो अपनी अनुभूति में मानवेतर समाज को भी वैसे ही अपनाना चाहता है जैसे मानव-समाज को।

समाज के लिए वस्त्र आवश्यक है, किन्तु समष्टि के पक्ष में उस वस्त्र का मर्म क्या अर्थ रह जाता है? सूर्य क्या पृथिवी के प्रति अपने को ढक ले, या पृथिवी सूरज से घूँघट ले ले? आकाश के चमकते तारे, बहती वायु, खुला आकाश, झूमते पेड़ और तरंगित सागर—क्या ये सब भी वस्त्र ओढ़ें और पहनें? तब यह पुरुष ही भला क्यों अपने को कपड़ों में मूँदे कि जिससे उन सबमें स्खलन और समन्वय हो रहता है। दिगन्त-व्यापी अम्बर उसे अम्बर है। कपड़ा, जो तन को धूप के स्वास्थ्य और वायु की स्पर्श से वंचित रखता, क्यों उसके लिए आवश्यक है? जिसे वायु के साथ

बहना और धूप के साथ खिलना है, जिसके प्राण अपनी व्याप्ति में कोई परिधि नहीं मानते और लोकान्त को छुए बिना जिसकी सहानुभूति चैन न पायगी—ऐसा महा अहिंसक पुरुष किससे बचने को कपड़े पहने ? जिसे सब के प्रति खुल रहना है, सब को अपने में ले लेना है, वह कैसे वस्त्र का व्यवधान सहे ? क्या वस्त्र ऋतुओं से और सभ्यताओं से अपने को बचाने का निमित्त ही नहीं है ? क्या वह भीति का प्रतीक ही नहीं है कि जिसका सामाजिक रूप लज्जा और दैहिक रूप सर्दी-गर्मी है। लेकिन वह कि जिसमें निखिल के प्रति प्रीति है, जो ऋतुओं का आह्वान करता है और प्राणी मात्र के प्रति जिसका हृदय करुणा से खुल पड़ा है, उसमें किसके प्रति भीति शेष रहे कि वस्त्र की आवश्यकता हो ?

यह दिगम्बरता का आदर्श असामाजिक नहीं है, यद्यपि सामाजिकता से सीमित नहीं है। सामाजिक होकर मानव प्राणी समाप्त नहीं है। अपने जैसे दूसरे मानवों के साथ सम्पर्क साधकर ही वह परिपूर्ण नहीं हो जाता। आगे भी उसकी सम्भावनाओं को विस्तार पाना है। उसे वनस्पति से, वायु से, पृथिवी से, जल से, ऋतुओं से भी सामीप्य प्राप्त करना है। उसके लिए जगत् मानव-जाति तक परिमित नहीं है, समूचे ब्रह्माण्ड के प्रति उसमें निमन्त्रण है। ऐसा पौरुषमय पुरुष समाज से पार समष्टि में मिलने का प्रयासी दीखता है और मानव को ही नहीं, निखिल जगत् का उसको आमन्त्रण प्राप्त होता है।

यह मुक्ति का आदर्श है। यह धार्मिक उपयोगिता की सीमा रेखाओं से आगे जाता है। यह लोकोपकार की भाषा की पकड़ में नहीं आता और आत्मकल्याण की भाषा ही इसे छू पाती है। कारण, लोक तो भी ससीम है, आत्म ही असीम है। जिसने आत्म को पाया उसे कुछ पाने को न रहा। जिसने अपने तईं कुछ न रखा उसने सबको सब देकर मानो सब पा लिया। यह आत्म-साधना और आत्म-मुक्ति का आदर्श सच्चे लोक-कल्याण का प्रकाशक है। नाना उपयोगितावादी समाज दर्शन और तदनुसारी शासन-प्रणालियाँ समाज में किंचित् लोक-मंगल नहीं

[illegible] पर्गी। [illegible], वर्गों द मानली [illegible] वर्गों [illegible] है। [illegible] पर [illegible] नहीं, [illegible] और [illegible] है।

[illegible] से [illegible] है [illegible] का [illegible] नहीं। [illegible] है कि [illegible] का [illegible] से [illegible] नहीं है। [illegible] है कि [illegible] में मानव का जन्म [illegible] और उसने [illegible] दिया। वह [illegible] है कि किस प्रकार [illegible] से [illegible] नहीं [illegible] हो है। [illegible] और [illegible] का [illegible] से अलग होकर [illegible] होते। मानव-[illegible] [illegible] का एक अंग ही है। उससे [illegible] होकर उसका मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता।

वह [illegible] की है। उसका [illegible] है। उस [illegible] को [illegible] में रूपान्तरित करना है। [illegible] का [illegible] होता है। इस साधना के [illegible] है। [illegible] का [illegible] में [illegible] करने की [illegible] में [illegible] उत्तरोत्तर [illegible] होता जाता है। उसके [illegible] और उसकी [illegible] पाता जाता है। [illegible] का [illegible] है। यहाँ तक कि [illegible] लिए वह कुछ नहीं [illegible], कुछ नहीं [illegible] और आत्यन्तिक [illegible] बनता है।

आज [illegible] की [illegible] है। [illegible] है कि [illegible] से यह दूर होगी। पर [illegible] की [illegible] नहीं हुए, [illegible] की [illegible] के कारण वह बन गयी है। इसलिए [illegible] के [illegible] करने से भी यह तब तक दूर नहीं होगा, [illegible] का [illegible] नहीं होगी। आज तो [illegible] का अन्त नहीं है। [illegible] जितना [illegible] है। इससे [illegible] उत्पादन [illegible] ने [illegible] और [illegible] कि जिनके पास बहुत है वह और बहुत [illegible] और जिसके पास कम है वह उससे भी कम रह जायगा। [illegible], [illegible] से [illegible]

करोड़पति अरबपति और दीन दरिद्र बन रहा है। प्रचुरता और अभाव दोनों साथ-साथ बढ़ रहे हैं।

ऐसे समय दिगम्बरता का ही आदर्श काम आ सकता है। वह अपरिग्रह धर्म का चरम उत्कर्ष है। आवश्यकता बढ़ाकर हम समस्याएँ भी बढ़ाते ही हैं। इस तरह बंधन बढ़ता है और मोक्ष हटता है। लखपति और करोड़पति, राजा और सम्राट् क्या अपने लाख-करोड़ और राज साम्राज्य के स्वामी होने के बहाने कैदी ही नहीं हैं? क्या वे आजाद हैं, कि जैसे पक्षी आज़ाद होता है? क्या उनका वैभव जकड़ और बड़प्पन बोझ भी नहीं है? और इधर सन्त हैं कि सब धर उसे समान हैं, सब जन उसके अपने हैं और कोई परिधि उसकी आत्मा पर बाधा बनने के लिए नहीं आ पाती है।

अपरिग्रह का यह आदर्श जितना अनिवार्य है उतना दुर्गम भी है। धन्य है वे कि जो उस तक पहुँचते हैं। वे, कि जिनके लिए यह साधना नहीं अनायासता है। वे सचमुच मेरे लेखे धन्य हैं कि दिगम्बरता जिनकी अहिंसा की अभिव्यक्ति है।

अमरीका और जर्मनी आदि देशों में नग्नता के प्रयोग हुए हैं। पाया गया है कि दैहिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए नग्नता गुणकारी है। लेकिन विचार का वह धरातल मेरे लिए अप्रस्तुत और अविचारणीय है। जिस दिगम्बरता के आदर्श की बात ऊपर कही, उसकी भूमिका एक दम भिन्न है। वह आध्यात्मिक है। कैवल्य की दिगम्बरता स्वास्थ्य के शौकीन नागरिक की नग्नता नहीं है। तीर्थंकरी दिगम्बरता में अहिंसा की, दृष्टि की, अपार करुणा की अभिव्यक्ति है। उसमें अभाव तो है ही नहीं, एक परिपूर्णता है। उसमें शौक या आग्रह नहीं है, एक आन्तरिक अनिवार्यता है। आकाश को फिर अतिरिक्त वस्त्र की आवश्यकता है? उसी तरह धूप को और चाँदनी को, दिन को और रात को फिर आवरण की आवश्यकता है? यह उनका नियम नहीं, निजता है। इसी तरह दिगम्बर कैवल्य-स्थिति का वेश है। अतः उस दिगम्बरत्व के पक्ष में साधारणतया

के तर्कों की संगति मुझे तनिक भी नहीं दीखती है। मेरा मानना है कि कि विदेशों की नग्नता के प्रयोग किंचित असामाजिक प्रवृत्ति के सूचक हैं, जबकि सच्चे योगी की दिगम्बरता का आदर्श विश्वजनीन हित-साधना में से ही प्राप्त होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आदर्श का मूल्य स्वतन्त्र है। वर्तमानता की त्रुटि उस पर आरोप बनकर नहीं आ सकती।



: ३ :

अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप

एक भाई ने अपरिग्रह की बात उठायी। कहा कि संस्था के लि भी धन अपरिग्रह क्यों न हो? व्यक्ति के पास बचा हुआ धन नहीं चाहिए तो संस्था के पास कोष क्यों चाहिए? महीने के खर्च से ज्यादा होना ही गलत। उपयोगी और प्रिय बनकर जो जीयेगा उसे साधन की चिन्ता न रहेगी। संस्था के लिए भी इस नीति में अपवाद नहीं हो सकता। आगे से हम धन की प्राप्ति या खर्च में ही रत्न पर दना सकते हैं, कुछ भी बचा नहीं छोड़ना चाहते। इसमें हमारी श्रद्धा की परीक्षा होगी और जड़ता को जमने का अवसर न रहेगा।

यह भाई साम्यनिष्ठ हैं और उनकी बात मुझे अच्छी लगी। पर निश्चिन्तता मुझे नहीं हुई। पूछा, 'इसलिए आप शाला चलाना चाहते हैं। उसके लिए जगह चाहिए तो होगी। वह होगी भी किसी की। वह प्रेम से मिलेगी या दाम से। अब जगह या मकान तो परिग्रह ही है। अपरिग्रह में उसके साथ क्या करना होगा?'

भाई को यह प्रश्न शायद बेकार सा मालूम हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि मन इसी तरह किसी-न-किसी चोर मार्ग से हमारे विचार में घुस आया करता है। उससे बाध होता है। संस्था स्थापित-स्वार्थ हो जाती है। यानी संस्था का स्वयं एक स्वार्थ बन आता है। इस तरह अपरिग्रह की बजाय चौकसी में पड़े बिना गति नहीं। आरण्यक तत्र नियमत ही आता है। नहीं अगर टिके तो भाड़ गया, प्रयोग ही सब छोड़ देगो इत्यादि।

भाई में उत्साह था। पास पैसा भी था। अपने आर्जव भाव में क निर्भर थे। इस प्रसंग से मेरे मन में प्रश्नों का उदय हुआ।

यह बात बम्बई की है। बम्बई धन की नगरी है। निर्धन आदमी तो वहाँ पहुँच नहीं सकता, पहुँचे तो उसका पता नहीं चल सकता। यानी हम दोनों वहाँ अपरिग्रह की बात चला सके तो इस आधार पर कि धन साथ था। धन बिना बम्बई पहुँचते कैसे? कन्द फल मूल जब तरसते हैं कि कोई उन्हें स्वीकार करे, ऐसे वन में तो हम थे नहीं। आज ऐसा वन कहाँ बचा है इसका भी निश्चय नहीं। इसलिए मानना पड़ा कि अपरिग्रह की बात धन की है, धन के कारण वह धर्म है।

अपरिग्रह में सुख आता है। हो भी क्यों न। कारण किसी को कुछ भी मैं अपना कहूँ तो वह टिकेगा कब तक? लाया मैं क्या साथ था और ले संग क्या जा सकता हूँ? जिन्दगी का सफर अकेला है और बे-साथ। इसलिए 'मेरा यह' और 'मेरा वह' मानना भ्रम ही है। भ्रम पोस सकता हूँ, पर कब तक? अन्त में तो उसे टूटना है। इससे पहले से भ्रम न रखना क्या समझदारी नहीं है? अपरिग्रह यानी 'मेरा नहीं'। इस 'नहीं' के भाव को हम क्रम से बढ़ा सकें, साध लें, तो उसे अपरिग्रह की सिद्धि माननी चाहिए। जितना ज्यादा मेरा होगा उतना मैं बिखरा और उलझा रहूँगा। जितना कम रहेगा उतना स्वतन्त्र और स्वस्थ रहूँगा। यह बात सीधी है और प्रमाण है।

पर फिर भी दिक्कत होती है। उस दिक्कत को पकड़ना है, टालना नहीं है।

मन आत्मा की चिन्ता करता है और उसी ओर से चलता है। आत्मा क्या, यह कहते नहीं बनता। कहने चलते हैं, तो नकार की भाषा हाथ रह जाती है। जो है, वह नेति है। इससे मन की भाषा विधि निषेध की हो जाती है। वहाँ निषेध द्वारा विधान करना है अन्यथा विधि बनती ही नहीं। सत्य से, ब्रह्म से, या उस प्रकार के निर्गुणात्मक स्वर मानो किसी दूसरे शब्द से आगे चलते ही नकार शुरू हो जाता है। जैसे अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, अक्रोध आदि।

'अ' निश्चय ही यहाँ सूचक मात्र है। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं

है, न वस्तु का अभाव अपरिग्रह है। ऐसा हो तो धर्म अभावात्मक हो जाय। 'अ' अभाव का नहीं, मात्रा की असमर्थता का द्योतक है। यह जान लें तो धर्म का रूप बदल जाता है। संसार से तरने के साथ स्वयं संसार को तारने की शक्ति बन जाता है। तब वह प्राण-वेग को मुक्त करता है। ममता से वह बचता नहीं, उसके हृदय में जाता है और वहाँ से उसे परिष्कार देता है।

अपरिग्रह नया धर्म नहीं है। चिन्मय होकर नया वह हो भी कैसे सकता है? वह तो सनातन है। लेकिन जिस अपरिग्रह पर तीर्थङ्कर निर्जन वन में दिगम्बर हो रहे, रंचमात्र आवरण अपने ऊपर नहीं ले सके, उस अपरिग्रह से आज के युग में गांधीजी का अपरिग्रह नया है। दिगम्बर की जगह अपरिग्रह में यहाँ ट्रस्टी होना है।

गांधीजी का दिया हुआ 'ट्रस्टी' शब्द मानो अक्सर की रक्षा करता है। अपरिग्रहवादी की बात भी रह जाती है और परिग्रहवाले की ममता पर भी जैसे आघात नहीं पड़ता। वामपन्थ विचारक इसीलिए उस शब्द की खिल्ली उड़ाता है। दक्षिण पंथ का विचारक भी उससे सहज अतृप्त रहता है। यह 'ट्रस्टी' (संरक्षक) शब्द दोनों के सन्ताप और असन्तोष का कारण है। इस शब्द की ओट में सारा पूँजीवाद सुरक्षित रहा है, ऐसा साम्यवादी का अभियोग है। उधर ध्येयवादी भी, जो तप में तृप्ति खोजता है, इस शब्द में भोग के प्रवेश के लिए द्वार खुला देखता है।

फिर भी इस शब्द को सहसा हमें फेंकना नहीं है। पूँजी जिसके पास है वह पूँजी का अभिमानी न होकर सिर्फ अभिभावक होगा, यह बात तब तक कैसे मानी जा सकती है जब तक निजी सम्पत्ति का ही कानून लोप न हो जाय? और निजी सम्पत्ति का निर्मूलन यानी सम्पत्ति का समाजीकरण। इस विचार धारा का मन्तव्य है कि आत्मा की ओर से बल्कि बात का नीति के मन पर छोड़ देना पड़ता है और यहीं सब चौपट हो जाता है। नहीं, उसे व्यवस्था की ओर से लेना और बाकायदा कानून का रूप दे देना होगा। यह साम्यवादी विचार धारा है जिसमें बात को

भावनाश्रित नहीं छोड़ा जाता। उसका कहना है कि पहले तो हर अन्याय से पूँजी इकट्ठा करके दूसरों की गरज के सहारे मजबूत बने रहने की गुंजाइश है, या कि आगे चलकर फिर दानी, दयालु और उपकारी बनने तक का मायाचार चल सकता है। नहीं, साम्यवाद ऐसा अवकाश न देगा। वह व्यवस्था ऐसी चौकस करेगा कि जिसमें दान के नाम पर संग्रह न हो सके।

स्पष्ट है कि साम्यवाद का तर्क शृंखला में कहीं कोई कड़ी ढीली नहीं है। शुद्ध आत्मदृष्टि से तो वह सारी कड़ी तकमूल्य ही है। कारण, उस दृष्टि में जगत् माया है, मिथ्या है। वस्तु-मात्र 'पर' है और उसकी प्रतीति छलना है। उस अर्थ में अपरिग्रह पर यह सोचने का हिस्सा ही नहीं कि आत्म से इतर अनात्म का क्या होता है। किन्तु आत्म के प्रति जो अनात्म है, क्या वह परमात्मा के प्रति भी अनात्मीय ही है? तब तो परमात्मा के अतिरिक्त भी दूसरी सत्ता को मानना होगा। यदि परमात्मा है तो वह तो अद्वैत है जिसमें जो है सब है। काल एवं आकाश, जो भेद बोध में निमित्त हैं, स्वयं निमग्न होकर हैं तो मानना होगा कि 'स्व' और 'पर' की भाषा 'स्व-पर' में ऐक्य साधन की दृष्टि से ही है। उसका भी सापेक्ष मूल्य है, सिद्धान्त में भेद नहीं है।

यों दर्शन तो आत्म की ओर से यदि दृष्टि है, तो दर्शन वस्तु की ओर से है। द्रष्टा और दृश्य का एकीभाव दर्शन है। इस रूप में अपरिग्रह की कृतार्थता वस्तु से अछूते रहने में नहीं है, वस्तु के मध्य खुले रहने में है। यानी यह, जो अपरिग्रह के प्रति 'अ' से आरम्भ करके उस 'अ' पर ही समाप्त होता है, मुक्ति साधन नहीं कर सकता। 'अ' पर बल देने से वह बल अपने-आप परिग्रह पर भी जा पड़ता है। यह आन्तरिक अनिवार्यता इतिहास की इस घटना में घटित देखी जा सकती है कि अपरिग्रह पर सब से अधिक आग्रह रखनेवाली जाति, यानी जैन, मानो लगभग निरपवाद भाव से आज वैश्यवर्गी है। आधुनिक जैन का व्यवहार धर्म संग्रह है, क्योंकि अतिरिक्त धन से उसका आदर्श

है। जैन नागरिक धनी और अनागारी दिगम्बर (तक) हैं। इस विरोधाभास के मर्म में जाने से ऊपर की बात साफ हो जानी चाहिए।

अपरिग्रह में जब मुख्यता से हम परिग्रह समझे जानेवाले पदार्थ से अपनी आत्मरक्षा चाहते हैं, तब अनजाने उसकी परागतता को, जड़ता को हम महत्ता पहना रहे होते हैं। यह मर्म भाव के लिए घातक स्थिति है। स्वस्थ चेतना पदार्थ से बचने की इच्छा खो सकती, बल्कि उसकी सृष्टि और उसकी सफलता में लगती है।

इस तरह परिग्रह के विचार को वस्तु के उत्पादन और निर्माण के साथ चलाने की आवश्यकता और उपयोगिता प्रकट हो आती है। सब कुछ मेरा हो यदि यह मेरी वृत्ति है, तो मेरा कुछ न हो यह मेरी साधना की शिक्षा हो सकती है। पर जगत् की समस्या है कि क्या, कितना, किस-किस का है। अपरिग्रह इस समस्या के निपटारे में यहाँ तक तो अनिवार्य सहायता करता है कि वह मुझे स्वयं में दावेदार होने से बचाकर एक बार के बचाव को कम करता है। अर्थात् वह मुझे मेरी समस्या में उत्तीर्ण करके जगत् की समस्या का स्वीकार करने योग्य बना देता है। किन्तु उससे आगे जैसे उसका अधिकार काम नहीं देता आगे जिसको परिग्रह माना उसी पर-पदार्थ की समाचीन व्यवस्था का प्रश्न आता है। जाहिर यह पदार्थ में असंलग्न नहीं, संलग्न होने का प्रश्न है। गहरा देखें तो यह प्रश्न भी अपरिग्रह धर्म का ही रूप है। मेरी अन्तरंग निवृत्ति ही उस प्रकार की प्रवृत्ति में मुझे बल दे सकती है। अन्यथा पदार्थ की ओर से मुँह मोड़कर साधी जानेवाली अपरिग्रही निवृत्ति मुझ में अन्तर्भूत प्रवृत्ति की जड़ों को क्षुब्ध और अन्ततः उद्दण्ड ही करनेवाली है।

मैं चीज न रखूँ, इससे चीज कहीं जाती नहीं, चीज की व्यवस्था का सवाल ज्यों-का त्यों पड़ा ही रहता है। और मैं अगर उससे वंचित होकर अपने को कृतार्थ और उस चीज की अपेक्षा में अपने को बड़ा बना लेता हूँ, तो उस चीज का लेकर पैदा होनेवाली अव्यवस्था का बढ़ाने में मैं सहायक बनता हूँ। ऐसे नागरिक और सामाजिक दायित्व से मैं च्युत

होता हूँ। अब कोई आदमी नहीं जो असामाजिक ठहर पाये। साधु-सन्त बल्कि अधिक ही सामाजिक होते हैं। मेरा परिवार इना-गिना हो, साधु को तो वसुधा कुटुम्ब है। इसलिए अपरिग्रह को पदार्थ की अपेक्षा में समझकर केवल नकार को साधते चलना दायित्व से बचना है।

इसीलिए आध्यात्मिक के प्रति-पक्ष में सामाजिक दृष्टिकोण को जन्म लेना हुआ। सम्पत्ति समाज की मानकर उसे अपना मानने से मैं सहज उठ जाता हूँ। 'समाज की है', इसमें यह तो गर्भित ही है कि वह मेरी नहीं है। ऐसे अपरिग्रह समाजवाद के पेट में ही रहता है। अपरिग्रह की सगति समाजवाद से भी आगे है, यह बताने के लिए अपरिग्रह को समाजवाद वाले प्रश्न का हल करने आगे आना होगा।

समाजवादी दृष्टिकोण लेकर चलनेवाला दर्शन तो विज्ञान भी बन गया। विज्ञान से भी आगे वह राजनेताओं के व्यवसाय का पथ-प्रदर्शक बन गया है। उसने विशुद्ध तर्क-गणित से जमा फैलाकर बता दिया है कि सब कुछ समाज का है और इस सत्य को इस प्रकार संगठन में लाना होगा। समाज का अनुशासन शासन-संस्था में मूर्त होगा, अर्थात् स्वत्व सब राज्य में केन्द्रित होगा। व्यक्ति तब 'मैं' और 'मेरे' से सहज छूट जायगा। व्यक्ति की शक्ति और चेष्टा इस भाँति समाज-हित में नियत होकर कृतार्थता प्राप्त करेगी।

"सम्पत्ति ?"

"सम्पत्ति सब राज्य की होगी। स्वयं व्यक्ति राज्य का होगा।"

"राज्य क्या होगा ?"

"वह सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) होगा।"

"सर्वहारा-वर्ग क्या ?"

"वह वर्ग जिसके पास सम्पत्ति के नाम पर सिर्फ श्रम है। श्रम धन की आत्मा है। वह सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य है। इसलिए राज्य शुद्ध श्रमिक-वर्ग का आधिपत्य होगा। और सम्पत्ति श्रम की धरोहर के रूप में राज्य के हाथ होगी।"

हम देखें कि इस समग्र तर्क शुद्ध रचना में अपरिग्रह की हानि कहीं नहीं है। और अ क्षरामही अपरिग्रह इसके समक्ष कदाचित् मौन और निरुत्तर हो जा सकता है।

फिर भी हानि है। कारण, वह सिर्फ नक्शा है। नक्शे की नदी में नहाया कभी नहीं गया। राज्य एक धारणा है, जैसे कि नक्शे की नदी धारणा होती है। धारणा के साथ व्यवहार आसान होता है। समूची गंगा नक्शे में हमारे अँगूठे के नीचे आ सकती है, जब कि मुझसे लाखों जना को लाखों वर्षों से गंगामाता अपनी गोद में झुलाती चली आ रही है। इससे राज्य का भी यथार्थ-मानव यथार्थ से कुछ भिन्न नहीं हो सकता। नाम बदलने से ही काम नहीं चल जाया करता। मैनेजिंग एजण्ट डायरेक्टर हो जाय, या डायरेक्टिंग कमिश्नर या सुपरवाइजर, या कमिस्सार—स्थिति में अन्तर तभी आयेगा जब उन नामों से सत्ता और धन के संचय पर बैठा हुआ आदमी लोभी की जगह त्यागी होगा। *किताब का कानून उस वक्त ज्यादा मदद नहीं करेगा।* आदमी के मन में तृष्णा बैठी होगी तो तब का शब्द उसे व्यर्थ नहीं कर पायेगा। इससे व्यवस्था का प्रश्न यद्यपि गणित का प्रश्न है, किन्तु अन्त में उसका मानव से सम्बन्ध है। इससे वह द्रव्य की, अर्थात् धर्म की भाषा से अछूता नहीं है।

गांधीजी का शब्द '*ट्रस्टी*' इसी जगह हमारी सहायता करता है। धनिक धन के साथ पूरा न्याय करना चाहता है, तो उसे यथार्थ में अपरिग्रही बनना होगा। धन के प्रति न्याय, अर्थात् उसका भरपूर हितप्रयोग अपरिग्रह में आता है। आत्मा की उपासना का अर्थ धन की अवहेलना नहीं है। धन समाज-शरीर का रक्त है। उसके निरन्तर और सम प्रवाह पर ध्यान न रखना अहिंसा नहीं, हिंसा है अपरिग्रह नहीं, मूर्च्छा है। सोना-चाँदी धातु हो सकते हैं जो सिर्फ चमक हैं, लेकिन आदमी की शारीरिक और मानसिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति से जुड़े होने के कारण उनके अर्थ का विज्ञान उतना व्यर्थ और मिथ्या नहीं है। आज

के दिन यदि अपरिग्रह में ज़ोर है तो तभी जब वह उस पर प्रभुता पा सके जिस कि परिग्रह माना है, उसे आत्मभूत और आत्म-साधक बना सके।

अपरिग्रही ही उस व्यक्ति को होना है जो आज सार्वजनिक धनस्रोतों के मुहाने पर है। आज का वह व्यक्ति अपरिग्रही नहीं होगा तो कल कोई अपरिग्रही उसकी जगह लेगा। कुछ और सम्भव नहीं है। भोग गिरेगा और उत्सर्ग ही उठेगा। सार्वजनिक ट्रस्ट, जब तक ट्रस्टी अपरिग्रही न होंगे, केवल सार्वजनिक त्रास उत्पन्न करेंगे। हुकूमत स्वयं एक सार्वजनिक ट्रस्ट है। फौज और कानून उसे वहाँ नहीं रोक सकते, सिर्फ अपरिग्रह रोक सकता है। आर्थिक जिसकी दृष्टि है, अर्थ की व्यवस्था उसे नहीं सौंपी जा सकती। अर्थ में उसे मान होगा, लोभ होगा और इस तरह वह लोक-मानस में विषमता लाने का कारण हो जायेगा। आज का धनिक वही है पहले का धनिक वह न था। पहले दृष्टि में धन नहीं, सिर्फ व्यवहार में था दृष्टि में धर्म था। पहले धनिक समाज-शरीर में उस गाँठ और गिल्टी के मानिन्द न था जो रक्त विकार को अपने अन्दर रोक कर फूलने लगती है। अर्थ की समुचित व्यवस्था के लिए दृष्टि नैतिक नहीं आर्थिक चाहिए, यह मिथ्या प्रवाद छाया हुआ है। पश्चिम के राज दर्शन और अर्थ-दर्शन ने यह भ्रम फैलाया है। उसको अब काटने की जरूरत है और उसके लिए ऐसी नीतिनिष्ठ पुरुषों की जरूरत है जो उसी अनासक्त भाव से धन से व्यवहार कर, जैसे भंगी मलमूत्र से करता है। मलमूत्र के सम्बन्ध में अपरिग्रह नहीं सिखाना होता, बल्कि उल्टे यह बताना होता है कि खाद तो सोना है, फेंकने के नहीं, संग्रह करने के योग्य है। धन के अपरिग्रह में भी धन की उपयोगिता और धन के समीचीन व्यवहार की शिक्षा गर्भित होनी चाहिए।

अन्यथा, अर्थ के सम्बन्ध में आदमी को तृष्णालु और ईर्ष्यालु बनाकर पहले अव्यवस्था उपजाता है। फिर पार्टी-गठन और पार्टी-क्रान्ति और अन्त में राष्ट्रवाद में जा समाहित होनेवाला है। यहाँ हठात् उन अथार्थी

आँखों में इतना रोमांस भर दिया जायगा कि उनको बाकी सब दर्शन, सब सम्प्रदाय के प्रति क्षुब्ध हो रहें। अब की तो समस्या है, समाधान जिस नीति में है। समस्या को आर्थिक जानकर समाधान को भी अर्थ में खोजना खुजाने से खाज मिटाने जैसा है।

अपरिग्रह आत्म का अस्त्र है। इसी से उसका उपयोग, उसका प्रभाव अनात्म के प्रति है। अर्थतन्त्र अर्थार्थियों से चलकर उलझन और बन्धन उपजानेवाला है। आत्मार्थी तब क्या ऐसा हो सकता है, जो अर्थतंत्र चलाये? हाँ, हो सकता है और हो, तभी त्राण है। गांधीजी का कोरा मजाक न था जब वह कहते थे कि मेरी कई दुकानें चल रही हैं। सचमुच दूकान की तरह अपने रचनात्मक संघों की पाई-पाई का वह ध्यान रखते थे। करोड़ों रुपया लोगों का लेकर अपनी दूकानों में लगाने में उन्होंने अध्यात्म की क्षति नहीं देखी। बल्कि इसी में से सत्यरूप परमेश्वर की सच्ची उपासना का उन्होंने लाभ अनुभव किया। अपरिग्रह ही उन्हें करोड़ों के धन्धों का संचालक बनने दे सका। ऐसे उन्होंने धन को धन्य किया, धनवालों को भी धन्य किया और उन लाखों श्रमिकों के हक को उन तक पहुँचाया जो अपनी श्रम तपस्या भूलकर मान रहे थे कि वे दरिद्र हैं। अपरिग्रह की लगन गांधीजी में इतनी तीव्र रही कि अपने को मिल सकनेवाली एक पाई से भी वह विमुख नहीं हुए। अपरिग्रह का उनके निकट अर्थ था कि धन शहर से देहात की ओर वह उठे, उसी लाचारी से जिससे बादल का पानी धरती पर बरसता है। धन धरती का है, धरती में पसीना डालनेवाला का है।

वह धरती से उठकर जाता है और वापस धरती में उसे पहुँचा देने में वहाँ किसी का उपकार नहीं है केवल उसकी कृतार्थता है।

समाज का और धन का निर्माण आकांक्षा और तृष्णा के नियमों से चले और आत्मा का और नीति का अभ्यास उससे विमुख निवृत्ति और निष्क्रम की रेखा पर चले, तो जीवन के इस समानान्तर खिंचाव से कभी युद्ध न होगा। ऐसा विस्फोट पास आवेगा और युद्ध उभरेगा, क्योंकि

जाति और शक्ति तब परस्पर विरुद्ध दिशा में समान बल से खिंचकर एक शून्यावस्था उत्पन्न करेंगी। उस शून्य को भरने के लिए 'यू-एस-एसवाद' और 'यू-एस-एस-आरवाद' अपने-अपने तोहफे लेकर यहाँ आ धमकेंगे। इसमें समय है कि समग्र समन्वय की भारतीय संस्कृति में से, जिसके प्रतिनिधि गांधीजी थे, हम अपना आदेश प्राप्त करें और उद्योग की यातनाओं का अध्यात्म की यातनाओं से कदम-ब-कदम मिलकर चलायें।



७

स्फुट

१

भारतीय जनतन्त्र

भारत ने अंग्रेजों की आधीनता से छुटकारा पाते ही अपने लि विधान-सभा की योजना की। उस सभा का भारतीय आम-सत्ता के सस्था का रूप स्थिर करके देना था। यह स्वरूप स्थिर हो गया है और भारत २६ जनवरी सन् '५० के दिन से एक जनतन्त्र के रूप में दुनिया में अ जगह ले ली है। भारत ने स्वाधीनता महात्मा गान्धी की राह से अ अहिंसक विधि से प्राप्त की है। इसलिए विश्व में ानी जगह ल अब भारत के लिए विश्व की सेवा में अपना आत्मदान देना ही हो जाता है। उसकी सत्ता, जो न संख्या की ओर से न संस्कृति और सम्पत्ति की ओर से हीन है, किसी के लिए शंका और आतंक का कारण नहीं हो सकती। सब के लिए उसमें अभय और आश्वासन हो है।

स्वतन्त्रता देशों को यों ही नहीं मिल जाया करती है। जाने कितना उसके लिए खून बहाना पड़ता है और अक्सर वह एक गहरे द्वेष को परम्परा छोड़ जाती है। राष्ट्र कोई जब उदय में आता है, तो उसका राष्ट्रवाद दूसरे राष्ट्र की प्रतिरोध भावना पर अपनी नींव बांधता और उसी से अपने को मजबूत करता है। पर महात्मा गान्धी जो भारत को या ही प्राप्त हुए, अनोखे ढंग के थे। उनके नेतृत्व में विश्व के इतिहास में पहली बार एक समूचे महादेश ने अपनी राजनैतिक स्वाधीनता इस तरह प्राप्त की कि परिणाम बैर नहीं हुआ, मैत्री हुआ। भारत और ब्रिटेन जो मालिक और गुलाम थे, गुलामी की कड़ी टूटने पर परस्पर शत्रु और विग्रही नहीं रहे, बल्कि साथी और मित्र बन गये। इतिहास की यह अद्वितीय घटना है और इस दृष्टि से भारत निश्चय ही अपने ढंग का अनूठा देश है।

निस्सन्देह भारत विभक्त हुआ और विभाजन में क्रूर अमानुषिक घटनाएँ घटीं। यह सचमुच भारत के भाल पर धब्बा है, भारतीयता की वह एक हार है। किंतु हार ता टिकनी नहीं है, इसलिए भारतीयता की सफलता के लिए वह एक चुनौती है। भारत आरम्भ से माना मानव-जाति की ओर से समन्वय-नीति की प्रयोगशाला होकर रहा है। भारत का सारा इतिहास धर्म की एक प्रयोग-गाथा है। राज कहीं चाहे राजनीति चले, भारत धर्मनीति का क्षेत्र रहा है। इस नाते विभाजन और उससे उत्पन्न हुई कटुता एक वह कलंक है, जिसको भारत की आत्मा धोये बिना नहीं रह सकती। फिर भी वह आपस की बात है और भारत के अहिंसक 'राष्ट्रयुद्ध' की एक दुर्बलता यद्यपि उससे प्रकट होती है, उस युद्ध की मौलिक सफलता में कोई संदेह नहीं है।

अहिंसा पर राजनीति कहाँ तक चल सकती है, यह अभी प्रयोग और परीक्षण का ही विषय है। महात्मा गांधी का तो दर्शन राष्ट्र से नहीं, अहिंसा से परिभाषा पाता था। यानी राष्ट्र के लिए हिंसा जरूरी पड़ती हो तो भी वह स्वयं अहिंसक रहते, फिर चाहे राष्ट्र शत्रु ही समझे जाते। सच पूछिए तो एक चुस्त हिन्दू राष्ट्रवादी ने राष्ट्र शत्रु समझकर ही उनकी हत्या की। किन्तु हिन्दू शब्द गांधीजी के लिए उससे अधिक पवित्र था। वह अहंता नहीं, उनके लिए आत्म का, सामयिक राष्ट्र नहीं, सनातन संस्कृति का बोधक था। हिन्दू शब्द समग्र धर्म-जीवन का द्योतक है वह मतवाद रूप नहीं है। वह देश धारणा से बँधा नहीं है, इसलिए राज्य या राजनीति से भी सीधा उसे सरोकार नहीं है। आत्म-नीति, जो मानव नीति और इसलिए सच्ची जगत् नीति भी है, वह उसके लिए नियम है। वह शाश्वत है, इसलिए वही सामयिक भी है। महात्मा गांधी इसी अर्थ में हिन्दू थे और मानना होगा कि सच्चे हिन्दू वही थे। इसी सनातन आदर्श के रूप में वह भारत का भावी निर्माण करना चाहते थे।

गांधी धार्मिक थे, पर सम्पूर्ण राजनीतिक भी। गांधी का नेतृत्व वह तत्त्व रखती थी उनमें प्राण और शक्ति रह सकती थी। पर धर्म उनका धर्म न

नीचे होने के लिए प्रजा अवश्य हो। अर्थात् राज्य में शासक और शासित ये दो पाट, दो अंग रहने ही वाले हैं। राजनीति का यह प्रयत्न है कि पाट दो रहें, फिर भी विग्रह न हो।

पर विग्रह तो होता ही रहा है। युद्ध इतिहास का स्तर है। एक पर एक युद्धों में से गुजरते हुए हमने राजतन्त्र का प्रजातन्त्र बनाना आवश्यक मान लिया है। अर्थात् तन्त्र तो होगा और वह अन्त में राज्य के लिए ही होगा लेकिन प्रजा की ओर से वह बने। प्रजा की ओर से, यानी चुनाव के जरिये प्रजा की अनुमति और उसके प्रतिनिधि लेकर।

इस 'प्रजा की ओर से' के सूत्र को विविध मात्राओं में और विविध रूपों में अमल में लाया गया है। प्रजाजन के अनुकूल राज्य होता है यह यद्यपि आज सबको मान्य है, फिर भी सब देशों की राज्य-पद्धतियाँ अपनी-अपनी हैं और एक-दूसरे से भिन्न हैं। उन भेदों के आज दो मुख्य वर्ग बन गये हैं, एक डेमोक्रेसी दूसरा डिक्टेटरशिप। कहीं राजा है कहीं प्रेजीडेण्ट है, कहीं मार्शल है कहीं कुछ दूसरा नाम है उसका जो शासन के शीर्ष पर है लेकिन सब तन्त्र मुख्यतया इन दो वर्गों के नीचे इकट्ठे हो जाते हैं। दोनों में कहीं भी जनता की, यानी प्रजाजन की अवहेलना है, ऐसा नहीं कह सकते बल्कि दोनों और दावा है कि जनता का हित और सुख ही उनका प्रधान लक्ष्य है। डिक्टेटर यदि है, तो वह जनता के प्रेम में से बनता है। बल्कि वह तो कहती है, गारंटी है, जो राज को प्रजा के हित समर्पित रखती है। जनता, यानी अकिंचन वर्ग। सो यह डिक्टेटरशिप 'प्राल्तारियत' की यानी नितान्त जनता की है।

यह ठीक हो, पर महात्मा गाधी राजके आदमी नहीं थे, क्योंकि हृदय के थे। उन्होंने तन्त्र की बात इसलिए लगभग की ही नहीं। उन्होंने राजनीति को 'रामराज्य' जैसा शब्द दिया। 'राम राज्य' क्या वैज्ञानिक अर्थ में जनतन्त्र है? क्या उसमें राजा के लिए अवकाश नहीं है? लेकिन अन्त की ओर तो राम-नाम की धुन और रामराज्य की टेक गांधीजी में और बढ़ गयी। प्रतीत हुआ कि 'राम राज्य' में तन्त्र की दृष्टि से जो

अपना कुछ अर्थ और आग्रह ही नहीं है, उसका विधान से सम्बन्ध ही नहीं है। मानो वह केवल भावना का रत्न है। राम कौन—जो सबमें रम रहा है। ऐसे वह विशुद्ध जनतन्त्र है। लेकिन राज्यासन पर कोई आदमी न बैठे, या पैत्रिक नहीं निर्वाचित ही बैठे या इतने ही वर्ष के लिए बैठे, आदि कुछ भी उसमें विधि निषेध नहीं है। सिर्फ इतना है कि 'रामराज' के साथ यह अपेक्षा, अमोघ और अनिवार्य होकर आदमी के मन में जड़ गयी है कि उसमें अन्याय को स्थान न होगा न भूख होगा, न गरीबी सब अपने कर्तव्य में तत्पर होंगे और दूसरे के प्रति स्नेहशील रस भरपूर रहेंगे और यथावश्यक मात्र लेंगे। यह जिसमें हो, फिर उसका तन्त्र और रूप ना हो, वह 'रामराज्य' है। अन्यथा तन्त्र जो भी हो, हमें उसे रामराज्य के आदेश की दिशा में बदलते और उगाते ही जाना है। राजनीति के विधान के लिए 'रामराज्य' शब्द यथार्थ नियत और नियुक्त नहीं है, वह हवाई है, भावुक है। फिर भी वह जनता की भाषा का है और राजनीति को उससे मुक्ति नहीं है। जनता के मन की उस कसौटी पर तन्त्र कसे जायगे और खरे होने पर रहेंगे, नहीं तो फेंक दिये जायँगे।

गांधीजी ने एक दृष्टि हमको दी। एक तरह से वह राज्य को खत्म करने की है, दूसरी ओर से वह राज्य को मजबूत और अमोघ बनानेवाली भी समझी जा सकती है। वह यह है कि शासक सेवक हो जाय। राजा सेवक हो और प्रजाजन सव्य। राजन्यजन तब स्वभावतः धर्मी होंगे, इसलिए वे और से अधिक संयमी, अपरिग्रही, सदाचारी और तत्पर होंगे। इसी कारण वे प्रजाजनों के लिए सदा अपने से अधिक सुख-सुविधा जुटाकर ही मानेंगे। जनता मालिक बनेगी और राजकर्मी चाकर होंगे। शास्त्र में नहीं, व्यवहार में ऐसा होगा, अर्थात् सेवा कर्म के अभ्यासी निःस्वार्थ, अहिंसक साधकों पर राजकर्म आयगा जो तब भृत्य-कर्म होगा।

भृत्य-कर्म में जाने के लिए छीना झपटी भला क्या होने लगी! वैसा यदि नहीं है और यदि राजकाज सेवा नहीं प्रभुता है पद है, वहाँ प्रतिष्ठा है, धन है, सत्ता है, तब हर किसी की आकांक्षा उधर क्या न दौड़े?

अयोग्य की ओर भी अधिक, क्योंकि आकांक्षा अयोग्यता का लक्षण है। तब अनिवार्य है कि एक कुर्सी को अनेक चाहें और एक को इसी शर्त पर वह मिले कि शेष उसके प्रतिस्पर्द्धी होकर शत्रु बन जायें। और वह एक यदि उस पद को वोटों से पाये, तो यह सुविधा उसे तभी होगी जब लोगों के मनों में वह मनोवांछित भोगों के सपने जगा दे और उनकी प्राप्ति का भरोसा जमा दे। इसी आवश्यकता में से चुनाव के वचनबद्ध घोषणापत्र और पार्टी प्रचार आता है। ऐसे आकांक्षा, स्पर्द्धा और ईर्ष्या मात्सर्य का एक माया-जाल रच उठता है जिसमें राज्य जकड़ जाता है।

जनतन्त्र लाचार है कि चुनाव से चले। चुनाव में से दल फूटते ही हैं। वे दल अन्त की ओर मुख्य दो रह जानेवाले हैं। एक पदस्थ, दूसरा अपदस्थ, यानी विरोधी। अब यदि कोई अपने बारे में निश्चिन्त है तो वह देश की भलाई की दृष्टि से सोच सकता है कि विरोध का और विरोधी का होना ही जनकल्याण में सबसे बड़ी बाधा है। तब उसका कर्तव्य हो जाता है कि विरोध को, अगर वह हो, तो निर्मूल कर दे और फिर इतनी सुदृढ़ व्यवस्था करे, और ऐसा प्रचार करे कि लोकमत उसके हाथ एकमत होकर ही जी सके, दूसरे मत की सम्भावना ही न रहे। इस परिणाम पर आने में कहीं कोई तर्क की त्रुटि नहीं रहती है। अतः देखने में भी आता है कि जनक्रान्तियाँ अन्त डिक्टेटर उपजाती रही हैं। क्यों और कैसे यह होता है, समता और स्वतन्त्रता में से सम्राट् कैसे निकल आता है, यह समझना मुश्किल नहीं होना चाहिए। आकांक्षा में से चलकर हम विभूति के पूजक हुए बिना रह नहीं सकते हैं। विभूति का भ्रम जो भी हमारे मन में अपनी वाणी से, प्रचार से, या कर दिखानेवाले पराक्रम से जगा लेता है, हमारी पूजा का पात्र बनकर वहीं हमारे ऊपर छत्रधारी रूप में विराजकर हमें धन्य करता है। इस तरह कि आकांक्षा के रास्ते संघर्ष, संघर्ष से सम्पादन, उसमें हिंसक पराक्रम और विभूति महिमा और उस रास्ते से ऐश्वर्यशाली अधिपति सम्राट् का आविर्भाव हो आता है।

जनतंत्र इस तरह यद्यपि आज सर्वमान्य है, पर आज ही के दिन यह

सबसे अधिक खतरे में भी है। क्योंकि आज जनमानस में अन्तर्निरीक्षण गहरा है। महत्त्वाकांक्षा अब अपेक्षाकृत कम है, भावनिक वृत्ति अधिक है। धर्म, भावुकता से निष्कामता, भय से निर्भयता और नैतिकता से समग्रता की ओर फैल रहा है। शब्दों के साथ लगा विभ्रम आज यथार्थ पर परखा जाता है। अपने आदमी के इतने टूटे हैं कि उनके सामने अब वह घबराता है। स्वप्न मात्र की नींव उसमें अश्रद्धा बस गयी है, श्रद्धा खो गयी है और अश्रद्धा को मानो विधिवत् संगठित कर लिया गया है। अश्रद्धा का एक विशाल विज्ञान ही बन गया है। अश्रद्धा की शक्ति से स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता बन जाती और इस हद तक जा सकती है कि चित्त अपने आप में स्थिर हो जाय। यह अवस्था है जिसमें सेनावाद और शक्तिवाद पनपता है। तब वचन उत्पन्न हैं, जो इस्पात के होने से मादक होते हैं। और उन इस्पाती रूढ़ियों का स्वामी हमारे वीर पौरुष का प्रताप-प्रतीक बनकर अतिशय आकर्षक हो उठता है। इस खतरे को बचाना है और बाहरी अनुशासन से अधिक भीतरी स्थिरता, यानी चरित्र को उन्नत और गम्भीर करने की ओर ध्यान देना है।

गांधीजी इसलिए इसमें सैनिक की जगह हार्दिक अर्थ डालना चाहते थे। भारत के राम दशरथ के पुत्र होने के कारण ही चाहे राजा बने, पार्टी लीडर होने कारण नहीं, फिर भी एक सामान्य धोबी की बात को वह अनसुना नहीं कर सके। जनमतसूचक उस एक व्यक्ति की बात पर सीता-वनवास जैसे मर्मान्तक आत्मवियोग से उन्होंने अपने को नहीं बचाया। राम के राज को यह जनमत भले शास्त्रशुद्ध न भी हो, पर आत्मशुद्ध यदि है तो उसका अभीष्ट परिणाम आ ही जानेवाला है।

इसलिए राजनीतिक धर्म के बीच गांधीजी ने आध्यात्मिक भाषा का प्रचलन किया। आदर्श को और भार को तन्त्र में, व्यवस्था में, अथवा योजना में नहीं, बल्कि चरित्र की पवित्रता और मनुष्य की एकाग्रता, अर्थात् नैतिकता में देखना बताया।

इस ही जनतन्त्र का भविष्य अहिंसा के साथ है। लोकमानस में

नैतिक मूल्य के रूप में जहाँ तक अहिंसा की प्रतिष्ठा है ठीक उसी हद तक जनतन्त्र सफल हो सकता है। यदि साधन शुद्धि का कुछ भी ध्यान नहीं है और सफलता ही एक साध्य है, तो जनतन्त्र इस गति से स्वयं अपना अन्त बुला लेनेवाला है।

भारत गांधी का देश है। वह बुद्ध, महावीर और शंकर की भूमि है। उसने कबीर और नानक उपजाये हैं। उसने राम और कृष्ण जैसे भगवत् पुरुषोत्तम सिरजे हैं। सम्राट् के प्रताप के लिए नहीं ऋषियों की वाणी और संतों के उत्सर्ग के लिए दुनिया उसे मानती है। जनतन्त्र उसका प्रकृत आदर्श है। उसे सन्त साधु मान्य रहा है, जो स्वेच्छा से स्वयं अकिंचन बना है और दीन दुखी का जिसने नारायण के समान वरण किया है। भारत का आत्म-प्रतिनिधि पुरुष दरिद्रनारायण को ही अपनी आराधना और सेवा देता है। जनराजा और जनगौरव की निष्ठा को मूर्त करनेवाला हमारा भारतीय जनतन्त्र मानवता के उसी आदर्श में एकत्रित, जाग्रत और प्रगत बनायगा—क्या यह विश्वास न रखा जाय ?



२

ध्येय नहीं नित्य कर्तव्य

आप की 'क्रांति' को पहला नम्बर मिला, जिसके लिए मैं आभारी
। उसके पहले लेख में ये शब्द हैं— जिसने दूसरा (क्रान्ति का)
तीजा जानना चाहा, इसे समझने की कोई कोशिश की, वह फिर कभी
सका नाम न लेगा ।''

मैंने क्रान्ति का नतीजा जानना चाहा है और उसे समझने की कोशिश
की है। और यह भी ठीक है कि मेरी राय हुई है कि उसका कभी नाम
नहीं लेना चाहिए।

क्रान्ति से डरना उसे बुलाना है। मैं उसे बुलाना नहीं चाहता।
इसलिए उससे डरने की मेरे लिए कोई जरूरत नहीं रह जाती।

लेकिन यह सोचने की बात है कि क्रान्ति करनेवाला या क्या उस
अपनी क्रान्ति को बिना समझे बूझे करना होगा ? तो न समझ की
जायगी वह नादानी होगी। तो क्या नादानी को ही क्रान्ति कहना होगा ?

सच यह है कि 'क्रान्ति' शब्द को सस्ता नहीं बनाना चाहिए। घिसे पैसे
की नाई उसका चलन चलाने से सच्ची क्रान्ति पास नहीं आती, दूर होती
है। मूल्य घटता है। शब्द को लोग ले उड़ते हैं असलियत छूट जाती है।

और ऐसा हो रहा है। 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा ही क्यों
के लिए कम दिखाई देता है। मुँह से वह इन्कलाब इस कदर खर्च होता
है कि जीवन में गहरे उतरने के लिए उसको मौका ही नहीं मिलता।

और क्या मतलब क्रांति से ? कुछ गड़बड़, कुछ उलट-पलट, धींगा
धींगी, और अपनी जगह से या शासक बन जाना—क्या इस तरह का
ही कुछ क्रांति है ? तो मैं कहता हूँ कि यह अनिष्ट है। वह प्रगति में बाधा
है। वह मानव की हार और अव्यवस्था की विजय है।

इतिहास में घटनेवाली क्रांतियों को देखिये। क्या किसी ने वहाँ स्वर्ग का उतार पाया? क्रांति जब तक ध्येय और मिशन रही, दूर रही, तब तब उसमें शक्ति रही। तब तक उसमें से आदर्श की प्रेरणा प्राप्त की जा सकी। उसके घटित घटना होने पर देखा गया कि मंजिल अभी आगे है, और क्रांति प्रत्यक्ष-समक्ष होकर भ्रम भर रह गयी है।

इसलिए क्रांति शब्द सह्य है, इसके आगे उपादेय भी हो सकता है, यदि वह कवि भाषा में लिखा-पढ़ा और लिया जाता है। अन्यथा तो वह शब्द हमें दुस्सह बन जाना चाहिए, यह भ्रम खतरनाक है कि उस शब्द में कोई वैज्ञानिक तथ्य भी हो सकता है।

आशय यह नहीं कि हमें प्रचलित (मानसिक) मूल्यों में किसी मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। आशय यह है कि इस प्रकार का मूल्यांतरीकरण ही क्रांति की वास्तविकता है। उससे अलग और भिन्न कोई क्रांति कहीं नहीं है।

इसलिए क्रांति का आरम्भ अगर कहीं है तो अपने-अपने जीवन से है। अपनी निगाह को हम बदल लेना है।

और मानव-जीवन की दृष्टि से कहें तो एक क्रांति है जिसकी सदा से आवश्यकता थी, है और रहेगी। वही स्थायी क्रांति। और वह यह कि म शक्तिस्पर्धी न हों, सेवा भावी बनें। आशा-स्पृहा असामाजिक है, या व्यक्तित्व की सामाजिकता (यथार्थ समाजवादिता) का प्रमाण है।

यह नहीं तो पन्निया-सी-पन्निया समझी जानेवाली क्रांति पास आकर भ्रम साबित हो रहेगी।

इससे जरूरी है कि हम क्रांति का सामान न खोजें। सामान जिससे टक होता है। वह जिसका उभाता है उसी का खाता है। आवश्यक है कि हम अपने जीवन के हर दिन और दिन की हर घड़ी क्रांति की यथार्थता पर आरूढ़ होते हुए चलें। क्रांति हमारे लिए नित्य कर्तव्य हो, हमसे अलग कोई दूर का ध्येय नहीं।



: ३ :

उपवास और लोकतन्त्र

गांधीजी उपवास पर हैं। नेता-सम्मेलन की माँग सामने आ चुकी है। वायसराय का जवाब भी सामने आ गया है। सरकार को पूरा विश्वास है कि वह न्याय पर है। उसका विश्वास इसलिए अकारण है कि गांधीजी के मित्र उनके पास पहुँच सकते हैं और चिकित्सा की भी पूरी व्यवस्था है। संसार उससे जान सकेगा कि सरकार गांधीजी के व्यक्तित्व के प्रति सहृदय है। पर न्याय निर्मम होता है और यह निर्ममता सरकार को झेलनी पड़ रही है, जब कि गांधीजी को छोड़ने में वह अपने को असमर्थ पा रही है। नेता-सम्मेलन को मिले इनकार को नेताओं का अपमान नहीं मानना चाहिए। उसकी कठिनाई भारी है, उसको हल्का नहीं समझना चाहिए। यह तय है कि लिनलिथगो व्यक्ति रूप में गांधीजी के दुःख दर्द में शरीक रहना चाहते हैं। साथ ही यह भी साफ है कि गांधीजी, अपने साथियों का विरोध उठाकर भी, युद्ध प्रयत्नों में विघ्न-बाधा न डालने की नीति को अपनाये रहे हैं।

इस पर भी संकट सिर पर है। मानो सब लाचार हैं। गांधीजी उपवास के वश से अधिक उसके भोक्ता हैं। उनकी ओर से यह व्यथा की पुकार है। इस बार तो उपवास सीधे किसी खास प्रयोजन से भी जुड़ा हुआ नहीं दीखता। दूसरी ओर वायसराय भी लाचार हैं। वह इस आत्म हत्या को कैसे शुभ समझें? राजनीतिक पैंतरेबाजी नहीं, तो यह उनके लिए और क्या चीज हो सकती है? व्यक्ति की स्वच्छन्दता की रक्षा करके सरकार भला कैसे चल सकती है? इससे लिनलिथगो भी अपने बन्दी मित्र की रिहाई का हुक्म निकालने में असमर्थ हैं।

देखा है। उपवास भी उसी प्रभु के प्रति आत्म निवेदन है, जो जन-जन के अन्तर्यामी हैं। इसी से उपवास गांधीजी का प्रश्न जितना है, उससे कहीं अधिक वह जगत् का प्रश्न बन गया है। गांधीजी, या कोई, इच्छा करके भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व से उसको नीचे नहीं ला सकता। हिन्दुस्तान आज दिन ब्रिटेन की सम्पत्ति ही नहीं रह गया है। इस लड़ाई में हिन्दुस्तान गहरा मोर्चा है। उसकी स्थिति में हेर-फेर युद्ध के नक्शे को बदल सकता है। ब्रिटेन में अमरीका की दिलचस्पी है और जिसमें उन दोनों की दिलचस्पी है, वह बात चीन और रूस के भाग्य से सीधी सम्बन्ध रखती है। इस तरह हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का हो या है—यह सवाल अपेक्षाकृत पीछे पड़ गया है। लड़ाई जीती जाय, यही सवाल इतना पहला बन गया है कि भारत की और सभी राष्ट्रीय बातों और माँगों को उसी एक अपेक्षा में देखना जरूरी हो गया है। इसी से आज सब ओर लाचारी है। गांधीजी को अपने लिए उपवास और सरकार को उनके लिए जेल ही उपाय मालूम होता है।

बेशक राष्ट्रीयता के दायरे में संकट का समाधान नहीं मिलेगा। पर प्रश्न है कि युद्ध द्वारा मित्र राष्ट्र क्या चाहते हैं? क्या वे न्याय की प्रतिष्ठा नहीं चाहते हैं? क्या अटलान्टिक चार्टर के पीछे की मनोभावना को हम झूठ कहें? क्या मित्र राष्ट्रों के राष्ट्रनायकों की बातों के बारे में हम न मानें कि वे गहरे विश्वास और ईमानदारी के साथ कही गयी हैं? यदि यह सच है, तो क्या सचमुच माना जाता है कि न्याय और साम्य के आधार पर होनेवाले नव निर्माण के लिए गांधी को अपना घात न करने देना जरूरी है? अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज शक्ति के हाथ निर्णय है। हमारे पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ ऐसा नहीं है, जिसमें दम हो और न्यायनिष्ठा हो। तब हारने पर जर्मनी के लोगों को मानने से कैसे रोका जा सकेगा, या इतिहास को ही इस प्रवञ्चना से कैसे बचाया जा सकेगा कि आक्रामण की गति मित्रराष्ट्रों के मुकाबले धीमी पड़ जाने से ही उसकी हार हुई। विजय न्याय की होती है तो क्या वह मन द्वारा ही नहीं होगी?

लोकतंत्रों की शक्ति क्या हार्दिक लोकमत का मूल ही नहीं है ? क्या 'लोकतन्त्र' शब्द में ही गर्भित नहीं है कि शक्ति और न्याय का अधिष्ठान लोक सामान्य में है ? यदि ऐसा है, तो नागरिक मर्यादा की रक्षा करते हुए वाक् स्वातन्त्र्य किसी भी न्यायकारी निर्माण के लिए क्या पहली शर्त नहीं ठहरती ?

आगे का किसी को पता नहीं। अपना पद्धति ईश्वर ही जानता है। पर हम अपनी समझ से आज शुरू कर सकते हैं। इस आत्म-मंथन का राष्ट्रनायकों में प्रारम्भ हो, तो उपवास भी लाभप्रद बन सकता है। सच यह है कि आज भी सरकार के शब्द और व्यवहार में मेल नहीं है। शब्द कठोर हैं और गांधीजी को न छोड़ सकने की लाचारी को हम समझ सकें, तो बाकी सब दृष्टियों से सरकार का व्यवहार मुलायम है। इसी में सद्भाव के बीज बोये जा सकते हैं। उनको उपवास की दया का सिंचन मिले, तो आज भी ब्रिटेन और भारत में राष्ट्रीय सद्भाव लहलहा सकता है। यदि गांधीजी नहीं, तो उस सद्भाव के बीज को अपनी आत्मा से सींचनेवाला दूसरा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा। गांधीजी के अभाव में फिर क्या रह जायगा, जो अविश्वास और कटुता की लहरों को अपने ऊपर ले और भीतर झेलकर प्रीति में बदल दे। गांधीजी आज वह हृदय हैं, जो राष्ट्र-भावना के रक्त में से मैल को साफ करके फिर शुद्ध रक्त को राष्ट्र की नाड़ियों में बहने को देते रहते हैं। कम अधिक पिछली आधी सदी का इतिहास बताता है कि हिंसा की शक्तियाँ यदि सम्पूर्ण अनय नहीं कर पायी हैं और निरन्तर विधायक रूप में उनका परिणमन होता रहा है, तो यह एक व्यक्ति गांधी के कारण।

विश्व-युद्ध के स्वप्न का नहीं, योजना का समय अब आ रहा है। क्या सचमुच गांधीजी को खोकर वह नक्शा लाया जा सकता है ?



४ :

निरातंकवाद

हिंसा-अहिंसा की चर्चा अब पहले जितनी सस्ती नहीं है, यह अच्छा ही है। यह नहीं कि वह प्रश्न आज कम महत्वपूर्ण है। प्रश्न का महत्व तो दिन दिन बढ़ता ही जा रहा है। संकट जितना घोर पड़ रहा है, अहिंसा उतनी ही अनिवार्य हो रही है। सच है कि उसके बिना त्राण नहीं। उसके सिवा जगत् के लिए दूसरी गति नहीं। साम्यवाद (कम्युनिज्म) में से मोक्ष आएगा, यह सपना टूट चुका है, उस 'वाद' के नीचे बुद्धि का प्रमाद दीख आया है। पूँजीवाद, जो मनुष्य को पूरी तरह राज्य के नियंत्रण में करने की जगह उसकी वृत्तियों को बहुत कुछ आजाद रहने देने के कारण पनपा था, व्याधियों की सृष्टि ही कर सका है। व्याधियों का इलाज उस पद्धति में से नहीं निकलनेवाला है। पूँजीवाद जनतंत्र के नाम पर जनवाद की दुहाई देता है, साम्यवाद अपनी तरह के जनवाद की मार्फत अधिनायकाधीन तंत्र का शिकंजा जमा चलता है। इन दोनों वादों में से मनुष्य को ढाढ़स नहीं मिल रहा, डर मिल रहा है। दोनों ही सामान्य मनुष्य को आतंकवादी जान पड़ते हैं। शस्त्रों के और दल-बल के जोर से वे अपनी गति चलाते देखे जाते हैं।

दुनिया के अखाड़े में छूटे हुए वाद ये दो ही हैं। शेष शायद धार्मिक हैं, धार्मिक नहीं हैं। यानी, शक्ति की भूमिका पर वे नगण्य हैं। गणनीय जो दो हैं वे दोनों आतंक पर चलकर ऊँचे उठे और फैल रहे हैं।

निश्चय ही उन दोनों में से किसी के द्वारा दुनिया का भविष्य नहीं हो सकता। आतंक में से कोई छोटा भी निर्माण नहीं हुआ है, मानव जाति के भविष्य का निर्माण तो बड़ी बात है।

अत चाहिए एक मानसिक निरातङ्कवाद। ऐसा वाद आदर्श और धर्म के मत में तो बहुधा मिलता है। लेकिन वह बकाम है। शक्ति नियम नहीं उसका आतंक हो भी तो क्या? इससे उसके निरातङ्क होने म कोई काम भी नहीं है। निरातङ्क की धारणा शक्ति में से आनी चाहिए। जिनसे भय हो सकता है वही अन्तर में अभय दे सकता है।

अभय देनेवाला भी शक्ति का एक प्रकार है, इसके उदाहरण गाधी हो गये हैं। गाधीजी की प्रधानता म भारतीय राष्ट्रीयता ने जब अग्रेज से टक्कर ली तो अग्रेज का भय क्या आया था। मगर गाधी ने सदा उसे अभय दिया। अग्रेज दुश्मन हो सकता था, क्योंकि वह भूल से अपने अन्दर की दुरभिसंधि का दुश्मन बन बैठा था। लेकिन दुश्मन है इसलिए और भी मन जीतना उसका बाल बांका नहीं हो सकता—यह काल गाधी का रहा। चौरीचौरा म विद्वेष न हो लेकिन उन्होंने इक्का-दुक्का अग्रेज को दबा लिया, तो उस पर गाधी ने अपने सारे आन्दोलन की ही लगाम खींच ली और उसके लिए प्रायश्चित्त किया।

यानी जैसे-जैसे फौज, उनका खर्च उनके लिए शस्त्रास्त्र की तैयारी और इन सब कारवाइयों का विश्वास बनता जाता है वैसे ही वैसे अहिंसा को पाने और पहचानने की दुर्निवारता भी बढ़ती जाती है। अहिंसा चलती नीति के तौर पर नहीं, बुनियादी मूल्य के तौर पर। देश से, राष्ट्र के अपने और अपने कुनबे उस के लिए अहिंसा नहीं बल्कि अहिंसा के लिए देश और राष्ट्र, अहिंसा के लिए हम, हमारा स्वास्थ्य जीवन और हमारी मृत्यु।

यह अमोघता अहिंसा का मिलानेवाला है। फिर भी अहिंसा की चर्चा का कम होना शुभ ही है। कारण, चर्चा उड़ती अधिक है करती कम है। मानो अहिंसा सिद्धान्तसूत्रों का बुना हुआ कोई खिलौना हो जिससे मनबहलाव मन बहला लिया जाय। या गोरखधंधा हो जिसके सहारे फुरसत कट जाय। जैसे वह आग न हो जो हमें जलाकर राख कर दे, या तो फिर तपा कर कुन्दन ही कर दे।

अभी एक जैनी भाई ने आपत्ति की कि अहिंसा की बात वह नहीं कर सकता है जो मांस खाता है।

मैं उस अहिंसा को नहीं जानता जो शाकाहारियों तक सिमटी है। ऐसी अहिंसा तो सिमटती सिमटकर एक दिन छिपकर हो जायगी। केवल परम धर्म के रूप में अहिंसा को मैं देख पाता हूँ। धर्म परम वह जो सब कहीं है, जिससे छुटकारा किसी को भी नहीं। अब तक के इतिहास की तमाम प्रगति को वही धर्म धारण करता है। आगे का विकास भी उसी में से चलेगा। हम उस से अनजान रह सकते हैं पर जब भी हम जानेंगे उसी को जानेंगे। यानी एक न एक दिन हम उसे पहचानना ही है। तभी हमारी आँख खुली कही जायँगी।

आज भी मैं नहीं जानता कैसे माना जा सकता है कि कोई सिर्फ मारता है। हर कोई अपने जीने के लिए दूसरे को मारता दीखता है। शेर मारता है तो भूख से या डर से। वह अपने को रखना और बचाना चाहता है। कसाई मांस की दुकान अपना कुनबा पालने के लिए करता है। शिकारी शिकार के समय जिन्दगी का, यानी जोखम उठाने का स्वाद पा रहा होता है। वह स्वाद शिकार का आनन्द है, न कि प्राणी की जान लेना। हिटलर ने जर्मनी को जिन्दा रखने और करने की कोशिश में युद्ध छेड़ा। जापान के लिए भी आत्मरक्षा का सवाल आ गया था। कोरिया का उत्तर दक्षिण पर अपने बचाव के लिए ही चढ़ दौड़ा। उत्तर पर अब दक्षिण की ओर से जो चढ़ाई है वह भी कोरिया की आत्मरक्षा में। रूस कभी यदि युद्ध में पड़ेगा तो अपने बचाव के खातिर। अणुबम चलेगा तो तभी जब असली जान पर आ बनती दीखेगी। वह बम पहले भी काम आया है। लेकिन कौन कह सकता है कि लड़ाई को उसने जल्दी खत्म नहीं किया था कि उसका प्रयोग तब नहीं हुआ जब कि अमरीका को अपने बचाव का दूसरा उपाय सुझाना बन्द हो गया था!

यह झूठ है कि बाद पहले मारता है। हर कोई पहले बचता और बचाता है। सब पहले अपने को चाहा जाता है, दूसरा हमेशा दूसरे

नम्बर पर आता है। यानी दुनिया में ऐसा कोई नहीं है जो मारने के लिए जीता हो। हर कोई अपने जीने की राह में दूसरे को मारता है।

दुनिया में सब हिंसा बचाव की हिंसा है। आक्रमण की हिंसा में गहरे जाकर देखें तो पता चलेगा कि वहाँ भी अपनापन ही मुख्य है, दूसरे का सताना मुख्य नहीं है। स्वत्वमात्र की रक्षा या प्रतिष्ठा की कल्पना में से ही पर-हत्या का, यानी आक्रमण की तैयारी आती है।

इसलिए प्रश्न यह है ही नहीं कि मारना अच्छा है या बुरा? कोई नहीं है जो मारने को अच्छा कहता हो। इस रूप में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को लेना ही गलत है।

अर्थात्, प्रश्न यह है कि अपने जीने के लिए भी दूसरे को मारना क्या 'अच्छा' हो सकता है?

इसके उत्तर में भी दुविधा की गुंजाइश नहीं है। अपने जीने के लिए भी मारना 'अच्छा' तो नहीं कहा जा सकता।

तब क्या वह आवश्यक है? उपयोगी है?

बाहर की ओर से उसकी आवश्यकता और उपयोगिता कभी सिद्ध नहीं हुई है। हत्या से कभी बदला पूरा नहीं हुआ है और युद्ध सब युद्ध की निरर्थकता को ही साबित करनेवाले बने हैं।

फिर भी आवश्यक है। कारण, हिंसा बिना जीवन चलता जो नहीं है। साँस लेने तक में घात है। यानी यह आवश्यकता असमर्थता की है, लाचारी की है। दूसरे शब्दों में कमजोर ही हिंसक होता है।

इसमें से सिद्धान्त निकला कि हिंसा क्षम्य है, अहिंसा साध्य। हिंसा कितनी भी अनिवार्य हो, नियम सदा अहिंसा है। अहिंसा ही धर्म है, हिंसा विवशता है। हिंसा सदा डर में से है, अहिंसा ही निडर है। निडरता की नीति का आरम्भ मनुष्य जाति से पहले नहीं है। इससे जंगल का कानून हिंसा और समाज का नियम अहिंसा है।

अमुक हद से आगे अहिंसा असम्भव बनती और हिंसा अनिवार्य रहती हो तो यह एक बात है। विकास-क्रम में यह स्थिति तो सदा ही

अभी एक जैनी भाई ने आपत्ति की कि अहिंसा की बात वह नहीं कर सकता है जो मांस खाता है।

मैं उस अहिंसा को नहीं मानता जो शाकाहारियों तक सिमटी है। ऐसी अहिंसा तो सिमटती जाकर एक दिन खिसक हो जायगी। केवल परम धर्म के रूप में अहिंसा को मैं देख पाता हूँ। धर्म परम वह जो सब कहीं है, जिससे छुटकारा किसी को भी नहीं। अब तक के इतिहास की तमाम प्रगति को वही धर्म धारण करता है। आगे का विकास भी उसी में से बनेगा। हम उस से अनजान रह सकते हैं पर जब भी हम जानेंगे उसी को जानेंगे। यानी एक न एक दिन हम उसे पहचानना ही है। तभी हमारी आँख खुली कही जायँगी।

आज भी मैं नहीं जानता कैसे माना जा सकता है कि कोई सिर्फ मारता है। हर कोई अपने जीने के लिए दूसरे को मारता दीखता है। शेर मारता है तो भूख से या डर से। वह अपने को रखना और बचाना चाहता है। कसाई मांस की दुकान अपना कुनबा पालने के लिए करता है। शिकारी शिकार के समय दिल्लगी का, यानी जोखम उठाने का स्वाद पा रहा होता है। वह स्वाद शिकार का आनन्द है, न कि प्राणी की जान लेना। हिटलर ने जर्मनी को जिन्दा रखने और करने की खातिर में युद्ध छेड़ा। जापान के लिए भी आत्मरक्षा का सवाल खड़ा बना था। कोरिया का उत्तर दक्षिण पर अपने बचाव के लिए ही चढ़ दौड़ा। उत्तर पर अब दक्षिण की ओर से जो चढ़ाई है वह भी कोरिया की आत्मरक्षा में। रूस कभी यदि युद्ध में पड़ेगा तो अपने बचाव के खातिर। अणुबम चलेगा तो तभी जब अपनी जान पर आ बनती दीखेगी। वह बम पहले भी काम आया है। लेकिन कौन कह सकता है कि अमरीका को उसने जल्दी खत्म नहीं किया था कि उसका प्रयोग तब नहीं हुआ जब कि अमरीका को अपने बचाव का दूसरा उपाय महाना बन्द हो गया था?

यह झूठ है कि कोई पहले मारता है। हर कोई पहले बचता और बचाता है। सदा पहले अपने को चाहा जाता है, दूसरा हमला दूसरे

नम्बर पर आता है। यानी दुनिया में ऐसा कोई नहीं है, जो मारने के लिए आता हो। हर कोई अपने जाने की राह में दूसरे को मारता है।

दुनिया में सब हिंसा बचाव की हिंसा है। आक्रमण की हिंसा में गहरे जाकर देखो तो पता चलेगा कि वहाँ भी अपनापन ही मुख्य है, दूसरे को सताना मुख्य नहीं है। स्वत्वभाव की रक्षा या प्रतिष्ठा की कल्पना में से ही पर हत्या की, यानी आक्रमण की तैयारी आती है।

इसलिए प्रश्न यह है ही नहीं कि मारना अच्छा है या बुरा? कोई नहीं है जो मारने को अच्छा कहता हो। इस रूप में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को लेना ही गलत है।

अर्थात्, प्रश्न यह है कि अपने जीने के लिए भी दूसरे को मारना क्या 'अच्छा' हो सकता है?

इसके उत्तर में भी दुविधा की गुंजाइश नहीं है। अपने जीने के लिए भी मारना 'अच्छा' तो नहीं कहा जा सकता।

तब क्या वह आवश्यक है? उपयोगी है?

बाहर की ओर से उसकी आवश्यकता और उपयोगिता कभी सिद्ध नहीं हुई है। हत्या से कभी बदला पूरा नहीं हुआ है और युद्ध सब युद्ध की निरर्थकता को ही साबित करनेवाले बने हैं।

फिर भी आवश्यक है। कारण हिंसा बिना जीवन चलता जो नहीं है। साँस लेने तक में घात है। यानी वह आवश्यकता असमर्थता की है, दुर्बलता की है। दूसरे शब्दों में कमजोर ही हिंसक होता है।

इसमें से सिद्धान्त निकला कि हिंसा तथ्य है, अहिंसा साध्य। हिंसा कितनी भी अनिवार्य हो, नियम सदा अहिंसा है। अहिंसा ही प्रकृत है, हिंसा निकृष्ट है। हिंसा सदा डर में से है, अहिंसा ही निडर है। निडरता की नींव का आरम्भ मनुष्य जाति से पहले नहीं है। इससे जंगल का कानून हिंसा और समाज का नियम अहिंसा है।

अमुक हद से आगे अहिंसा अशक्त बनती और हिंसा अनिवार्य रहती हो तो यह एक बात है। विकास-क्रम में यह स्थिति तो सदा ही

रहनेवाली है। पर सत्य दर्शन से हिंसा का समर्थन निकालकर बाकायदा उसकी तैयारी में लग जाना बिल्कुल दूसरी बात है।

यह दूसरे प्रकार की तीव्र तैयारी के साथ की जानेवाली हिंसा मानवता के लिए लज्जा की चीज होनी चाहिए। पर वह उल्टे गौरव की बात बनी हुई है—यह हमारी आज की मानव सभ्यता की विडम्बना है। हमारे ज्ञान विज्ञान और संस्कृति-सभ्यता पर यह तीखा प्रश्न है। हमारी सारी विचार-पद्धति की ही यह एक आलोचना है।।

यह कोरा वहम है कि मारने से जीने के मान में कुछ लाभ हो सकता है। आँखों से, अनुमान से या कल्पना से दीखनेवाला ऐसा लाभ मिथ्या दर्शन और भ्रमयुक्त दृष्टि की सृष्टि है। वह निरी मरीचिका है। निश्चय ही वह प्रतीत होनेवाला लाभ प्रतीति से बाहर पड़कर कोरा शून्य निकल आनेवाला है।

अब एक उससे बिल्कुल उल्टी जीवन-नीति है। वह अहिंसा की है। उसमें अपने बचाव की बात सोचने की जगह ही नहीं है। उसमें अपने को देने की तत्परता है। उसे आत्मिक कहो, नैतिक कहो, या कुछ कहो। उसमें जीने के लिए मारने के योग्य को जगह नहीं है। उसमें असत् के सामने डटकर स्वयं मर तक जाने की तैयारी की बात है। निश्चय इसमें गहरी निर्भयता और ऊँचे पराक्रम की आवश्यकता है। स्पष्ट ही इस नीति में अधिक सम्भावना है। भविष्य बड़ा खड़ा हो सकता उस पर जो मूल में तृष्णात और परिणाम में व्यय है। मजबूती के साथ उस भविष्य की बुनियाद को बाँधना होगा उस अहिंसक नीति पर कि जिसकी जड़ श्रद्धा में है और परिणाम जिसका अमाप और चिरन्तन है।



जैनेन्द्र-साहित्य

	नये पैसे
उपन्यास	
सुखदा	४ ००
विवर्त	४ ००
व्यतीत	०
सुनीता	३ ०
त्यागपत्र	१ ०
कल्याणी	-.५०
जयवर्धन	६ ००
यामा (प्रथम भाग)	-०
यामा (द्वितीय भाग)	५०
कहानी-संग्रह	
जैनेन्द्र की कहानियाँ	
(सात भाग में) प्रत्येक भाग	२ ०
नाटक	
मन्दालिनी	१ ०
पाप और प्रकाश	= ०
निबन्ध	
पूर्वोदय	१ ००

	नये पैसे
मंथन	६ ००
सोच-विचार	६ ००
साहित्य का श्रेय और प्रेय	७-००
ये और वे (संस्मरण)	३-०५
प्रश्नोत्तर	
काम, प्रेम और परिवार	२-००
प्रस्तुत प्रश्न	४-५०

हमारे अन्य प्रकाशन

करवट (उपन्यास)	
डा० मा० प्रभाकर	२ ००
मिट्टी का पुतला (उपन्यास)	
कालिन्दी चरण पाणिग्राही	००
खजाना । म० भगवानदीन	००
खजाना, राह पर है	
म० भगवानदीन	१ ७
बचपन हमारी	
म० भगवानदीन	०-७
नाटि का सार मन्तुजा	१ १०

जैनेन्द्रजी का नवीनतम

उपन्यास 'अनाम-स्वामी' (प्रथम भाग)

प्रकाशित

पूर्वोदय प्रकाशन, ऋषि भवन,

८, फैजबाजार, दिल्ली

रहनेवाली है। पर तत्त्व-दर्शन से हिंसा का समर्थन निकालकर बाकायदा उसकी तैयारी में लग जाना बिल्कुल दूसरी बात है।

यह दूसरे प्रकार की तौर तैयारी के साथ की जानेवाली हिंसा मानवता के लिए लज्जा की चीज होनी चाहिए। पर वह उल्टे गौरव की बात बनी हुई है—यह हमारी आज की मानव सभ्यता की विडम्बना है। हमारे ज्ञान विज्ञान और संस्कृति-सभ्यता पर यह तीखा प्रश्न है। हमारी सारी विचार-पद्धति की ही यह एक आलोचना है।।

यह कोरा वहम है कि मारने से जीने के मान में कुछ लाभ हो सकता है। आँखों से, अनुमान से या कल्पना से दीखनेवाला ऐसा लाभ मिथ्या दर्शन और प्रमत्त दृष्टि की सृष्टि है। वह निरी मरीचिका है। निश्चय ही वह प्रतीत होनेवाला लाभ प्रतीति से बाहर पहुँचकर कोरा शून्य निकल आनेवाला है।

अब एक उससे बिल्कुल उल्टी जीवन-नीति है। वह अहिंसा की है। उसमें अपने बचाव की बात सोचने की जगह ही नहीं है। उसमें अपने को देने की तत्परता है। उसे आत्मिक कहो, नैतिक कहो या कुछ कहो। उसमें जीने के लिए मारने के घाटे की जगह नहीं है। उसमें असत् के सामने डटकर स्वयं मर तक जाने की तैयारी की बात है। निश्चय इसमें गहरी निर्भयता और ऊँचे पराक्रम की आवश्यकता है। साथ ही इस नीति में अधिक सम्भावना है। भविष्य नहीं बन सकता उस पर जो मूल में तृष्णार्त और परिणाम में व्यर्थ है। मजबूती के साथ उस भविष्य की बुनियाद को बाँधना होगा उस अहिंसक नीति पर कि जिसकी जड़ श्रद्धा में है और परिणाम जिसका अमाप और चिरन्तन है।



: जैनेन्द्र कुमार

जन्म १९०५ ई० । आरम्भिक शिक्षा ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर (१९११ १८) प्राइवेट मैट्रिक, १९१९ । काशी विश्वविद्यालय १९१९, १९२० । असहयोग आन्दोलन में कालिज छोड़ दिया १९२१ । पहली बार जेल १९२४ । फिर जेल १९३०, १९३२ । कोई नौकरी नहीं मिली । अपने को कायमी बेकार कहते हैं ।

साहित्य में प्रवेश, पहला कथा-संग्रह 'फाँसी' से हुआ १९२ ई० । प्रथम उपन्यास 'परख', १९३० । प्रथम विचार पुस्तक —'जैनेन्द्र के विचार' १९३७ ।

उनके साहित्य प्रवेश पर जो हलचल मची उसका अनु[illegible] कतिपय विशों में इन उद्गारों से हो सकता है—

" तुम गोर्की चाहते हो ! [illegible]
सस्ता तो यह जैनेन्द्र है !"

" 'जैनेन्द्र के विचार'
जैसा टाल्सटाय को पढ़ते समय [illegible]

" हिन्दी-साहित्य के [illegible]
शरत् बाबू को एक ही साथ [illegible]

: जैनेन्द्र कुमार

जन्म १९० ई० । आरम्भिक शिक्षा ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिना र (१९११ १८) प्राइवेट मैट्रिक, १९१९ । काशी विश्वविद्यालय १ १९, १९२० । असहयोग आन्दोलन में कालिज छोड दिया १९२१ । पहली बार जेल १९२४ । फिर जेल १९३०, १ ३२ । कोई नौकरी नहीं मिली । अपने को कायमी बेकार कहते हैं ।

साहित्य में प्रवेश, पहला कथा संग्रह 'फाँसी' से हुआ, १९२९ ई० । प्रथम उपन्यास 'परख', १ २० । प्रथम विचार पुस्तक —'जैनेन्द्र के विचार' १९३७ ।

उनके साहित्य प्रवेश पर जो हलचल मची उसका अनुमान कतिपय विज्ञों के इन उद्गारों से हो सकता है—

" तुम गोर्की चाहते हो ? हिन्दुस्तान म कोई गोर्की है या हो सकता तो यह जैनेन्द्र है ।"

—प्रेमचन्द

" "जैनेन्द्र क विचार' पढ़कर मैंने ऐसा आनन्द अनुभव किया जैसा टाल्सटाय को पढ़ते समय हुआ है, बल्कि उससे भी विशेष "

किशोरलाल मशरूवाला

" हिन्दी-साहित्य क कथा क्षेत्र म हमने (जैनेन्द्र में) रवि और शरत् बाबू को एक ही साथ पाया और अब पाया ।"

—मैथिलीशरण गुप्त